अनुभूति और अभिव्यक्ति

(वैचारिक निबन्ध संग्रह)

महेन्द्र सागर प्रचण्डिया

जैन शोध अकादमी
आगरा रोड, अलीगढ़-202001 (उ.प्र.)

आवरण-सज्जा : मनीष डागा

मूल्य : 100.00 रुपये
पेपरबैक्स : रु. 70.00

संस्करण : प्रथम, 2001

प्रकाशक
जैन शोध अकादमी
आगरा रोड, अलीगढ़ (उ.प्र.)

शब्द-संयोजक
विनायक कम्प्यूटर्स
1/2165, लेन नं. 16, रामनगर
शाहदरा, दिल्ली-110032
दूरभाष : 2286717

मुद्रक
व्योमवर्ड्स
शाहदरा, दिल्ली-110032

ANUBHUTI AUR ABHIVYAKTI
by Mahendra Sagar Prachandiya — **Rs. 100.00**

पूज्य दद्दा
स्वर्गीय इन्द्रसेन प्रचण्डिया
पूज्या अम्मा
स्वर्गीया शिवरानी प्रचण्डिया
की पुण्य स्मृति में

स्वकथ्य

'अनुभूति और अभिव्यक्ति' मेरे अवकाश प्राप्त कर लेने के बाद लिखे गए मौलिक तीस निबन्धों का संग्रह है। इन निबन्धों में सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक विविध बिन्दुओं पर मौलिक मूल्य और मूल्यांकन अभिव्यक्त हुआ है।

आज समाज में इतनी तेजी से चारित्रिक गिरावट आई है, इससे हमारा जीवन ही नहीं अपितु पूरा देश प्रभावित हुआ है। लोगों का स्वार्थ और संकीर्णपरक दृष्टिकोण बन गया है फलस्वरूप हमारी चर्या हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह प्रधान हो गई है। इन सभी अप्रिय बातों से समाज में एक ओर जहाँ बौद्धिक प्रदूषण फैला है, वहाँ दूसरी ओर समाज और देश में गजब का चारित्रिक स्खलन आया है। फलस्वरूप हमारे भीतर से संवेदनशीलता, श्रम और सेवा, संयम और सौहार्द, परोपकार तथा राष्ट्रप्रेम जैसी उदात्त और भव्य भावनाएँ मानों लोप हो गई हैं।

किसी भी देश का वास्तविक विकास उसकी ऊँची-ऊँची इमारतों, कल-कारखानों, बाँध और उद्योग लगाने भर से नहीं होता अपितु देश का सच्चा निर्माण उसके नागरिकों के चरित्र निर्माण में निहित होता है। सच्चरित्रता के अभाव में जीवन से प्रामाणिकता और दायित्व निर्वाह का शुभ संकल्प सान्त-समाप्त हो जाता है। इससे देश के यथार्थ विकास का पंथ प्रायः निरापद नहीं रहता, अवरुद्ध हो जाता है।

इन निबन्धों में उन सभी भव्य भावनाओं का सामञ्जस्य है, जिनके नित्य और निरन्तर चिन्तवन तथा चर्या में चरितार्थ करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। इच्छाओं का निरोध व्यक्ति-विकास का मूलाधार है। इसके लिए व्रत-साधना का अपना महत्त्व है। महात्मा गांधी जी सत्य और अहिंसा के आधुनिक मसीहा माने जाते हैं। उन्होंने इच्छाओं को निरोधने के लिए एकादश व्रतों का विधान प्रस्तुत किया है। इन निबन्धों में इन व्रतों की मूलात्मा का उपयोग हुआ है।

स्वर्गीय पद्मश्री यशपाल जैन ने गत वर्षों में 'जीवन-साहित्य' के प्रत्येक

अंक विशेषांक के रूप में प्रकट करने के प्रशंसनीय प्रयोग किए थे, मेरे ये निबन्ध इस प्रशंस्य प्रयोग के सुफल हैं। पुस्तक को सजाने-सँवारने के लिए श्री मंगल नसीम, श्री मनीष डागा और डॉ. राजीव प्रचण्डिया साधुवाद के पात्र हैं।

मेरी धारणा है कि इन निबन्धों का कथ्य और सत्य पाठकों में मानवीय संस्कार जगाने में अहम् भूमिका का निर्वाह करेंगे। यदि इस दिशा में यत्किंचित सफलता प्राप्त हुई तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा। इत्यलम् ॥

महावीरजयन्ती, 2001 **महेन्द्र सागर प्रचण्डिया**

अनुक्रम

हम अनेक : हम एक

प्राणधारियों में मनुष्य श्रेष्ठ प्राणी है। इसकी श्रेष्ठता का आधार है—विवेक और कर्म करने की अपूर्व क्षमता। कर्म करना कर्त्ता का स्वभाव होता है। कर्म जब शरीर के साथ किया जाता है, तब परिणाम मजूरी अथवा मज़दूरी कहलाता है। वही कर्म जब बुद्धि के साथ किया जाता है, तब कारीगरी का जन्म होता है और जब कर्म हृदय के साथ किया जाता है, तब कला का प्रवर्तन होता है। जीवन जीना एक कला है।

एक इन्द्रिय से लेकर पंच इन्द्रिय जीवधारी एक साथ रहकर जीवन जी सकते हैं, पर मनुष्य-मनुष्य एक साथ रहकर जीने में आज असमर्थ हो रहा है। इसका मूल कारण है ज्ञान का अभाव और मोह का प्रभाव। दुर्विचारों का संगठन अत्यन्त भयंकर होता है। यह व्यक्ति को व्यक्ति तक पहुँचाने में, मिलने में बाधक है। असत्य के माध्यम से मिला हुआ सुख क्षण मात्र आनंद देता है, लेकिन उसका भविष्य कितना दु:खमय होता है, क्या इसका कभी विचार किया है?

जैसी मेरी आत्मा है, वैसी ही आत्मा जगत् के अन्य अनन्त प्राणियों में भी सन्निहित है। जिस प्रकार मुझे सुख पसन्द है और दु:ख पसन्द नहीं है, उसी प्रकार जगत के सभी जीवों को सुखी रहना पसन्द है। आचार्य विनोबा भावे प्राय: कहा करते थे कि दुनिया के साथ, साथियों के साथ, सरलता से व्यवहार कीजिए। ब्रह्म भावना की यह कसौटी है।

अज्ञानता का परिणाम है—मोह। मोही सदा संकीर्ण और संकुचित मनोवृत्ति का होता है। उसमें क्रोध, मान, माया और लोभ जैसी कषायिक कुवृत्तियाँ जग जाती हैं। क्रोध करने से विवेक नष्ट हो जाता है। मान से मैत्री भावना खण्डित हो जाती है। जब सारे मान समान हो जाते हैं, तब प्रेम की उत्पत्ति होती है। माया से जीवन में सरलता का समापन हो जाता है। जब जीवन में दर्शन का अभाव और प्रदर्शन का प्रभाव बढ़ जाता है, तभी परस्पर विलगाव और बिखराव

उत्पन्न हो जाता है। इस कारण आज हर घर में ड्राइंग रूम है, हर घर ड्राईंग रूम नहीं है।

सरलता जीवन में सदाचार का प्रवर्तन करती है। सदाचारी सदा आत्मिक गुणों का उपासक होता है। इसी से प्रत्येक जीव में अपनत्व, सौहार्द और सहानुभूति के संस्कार उत्पन्न होते हैं। महात्मा गांधी प्रायः कहा करते थे कि ख़राब काम करने वाले को धिक्कारना उचित नहीं है, उचित है उसे प्रेम से सन्मार्ग पर लाना। हमें बुरे आदमी से नहीं, उसकी बुराई से घृणा करनी चाहिए। हम जब कभी ख़राब वातावरण में घिर जाते हैं, तब न करने जैसा कार्य भी कर बैठते हैं। उस समय सन्तों की वाणी और उनका आशीर्वाद हमारे सारे पापों का प्रक्षालन कर देता है।

हमारे जीवन में चित्त अनेक जन्म लेते हैं, जबकि चेतना तो एक ही है। मद से अनेक चित्तों का जन्म होता है। चित्तमुखी प्राणी यथार्थ जीवन जीने से प्रायः वञ्चित रहता है। विचार कीजिए, परिवर्तन संसार का नियम है। जिसे मृत्यु कहा जाता है, वही तो जीवन का प्रथम सूत्र है। एक क्षण में करोड़ों के स्वामी बनना होता है तो दूसरे ही क्षण में दरिद्र हो जाना होता है। मेरा-तेरा, छोटा-बड़ा, अपना-पराया मन से मिटा देना श्रेयस्कर है, विचार से विमुक्त कराना उत्तम है, फिर परिणामतः सब तुम्हारा है और तुम सबके हो जाते हो।

गत दशाब्दि में एक श्रमण सन्त हुए आचार्य कल्याण सागर। वे लोक देवता की तरह समाज में समादृत थे। वे प्रायः कहा करते थे कि आज मनुष्य का जीवन विग्रह-मुखी हो गया है। अनुग्रह से अनुप्राणित जीवन-चर्या के लिए बाहरी संग्रह नहीं, अपितु आत्मिक गुणों का अनुशीलन आवश्यक होता है। सत्य पूरे संसार में ग्राह्य है। इसी प्रकार क्षमा, दया, अहिंसा और अपरिग्रह आदि आत्मिक गुण सभी समुदाय और समाज में समादृत हैं।

उन्होंने एक इन्द्रिय पेड़-पौधों पर विभिन्न प्रयोग किये। उनका कहना था कि इन पर झूठा पानी नहीं डालना चाहिए। इनका अनादर करना सर्वथा अनुचित है। मंत्रोच्चार के साथ जल पान कराने से इन पेड़-पौधों ने सुगंधित फूल और स्वादिष्ट फल प्रदान किये, अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में दिये। फिर अनेक इन्द्रिय जीवों के साथ यदि समता और मैत्री-पूर्ण व्यवहार किया जाय तो परिणाम अत्यन्त उपयोगी और सर्वोदयी प्राप्त किये जा सकते हैं।

आज मनुष्य जीवन का दायरा अत्यन्त सिकुड़ गया है और इसका कारण है हमारी जीवन-चर्या में आत्मिक गुणों का सर्वथा अभाव। फलस्वरूप व्यक्ति-उदय, वर्ग-उदय के प्रयास किये जा रहे हैं, सर्वोदय के लिए हम सबको सक्रिय होना चाहिए। दर्शन अर्थात् श्रद्धान और ज्ञान के द्वारा सर्वोदयी सन्मार्ग

को प्रशस्त किया जा सकता है, जिस पर चलकर हम प्राणिमात्र के और प्राणिमात्र हमारे हो सकते हैं। इससे बड़ी बात और क्या हो सकती है कि हम अनेक होते हुए भी सदा एक होकर रह सकते हैं। ऐसी स्थिति में सारी वसुधा एक कुटुम्ब के रूप में परिणत हो सकती है।

□□

सत्य : शक्ति और अभिव्यक्ति

सत् सत्य का पूर्व और अपूर्व रूप है। सत्य में सत् है, जिसकी सत्ता है। जिस पदार्थ की जिस रूप में सत्ता है, उस पदार्थ को उसी रूप में जानना ज्ञान है, मानना श्रद्धान है और उसी रूप में बोलना सतवानी है।

सत्य वस्तुतः आत्मा का धर्म है। उसका स्थान शरीर और वाणी में नहीं है। वचन और शरीर से उसकी अभिव्यक्ति होती है। यद्यपि अभिव्यक्ति एक शक्ति है तथापि उसमें सत्य नहीं, सत्य का मात्र अंश ही अधिकांश में अभिव्यक्त होता है। अभिव्यक्ति में सप्तभंग का महत्त्व अतिरिक्त है। फलस्वरूप 'अपेक्षा' के सहयोग से अभिव्यक्ति में सत्यधर्म को खोजा और पाया जा सकता है।

जीवन-व्यवहार यदि बिना बोले सम्पन्न हो जाए तो न बोलना सर्वोत्तम है। व्यवहार न चले तो हित, मित, प्रिय वचन बोलना उत्तम है। यदि सूक्ष्म असत्य से बचाव न हो सके तो स्थूल असत्य कभी नहीं बोलना चाहिये।

महात्मा गांधी ने भी सत्य को वचन की सीमा से ऊपर स्वीकार किया है। वे सत्य को ईश्वर के रूप में देखते हैं। तीन बन्दरों के व्याज से वे प्रायः कहा करते थे—बुरा मत देखो, बुरा मत सुनो और बुरा मत कहो। योग सूत्रकार महर्षि पातञ्जलि ने कहा है—सत्य प्रतिष्ठित व्यक्ति को वाक् सिद्धि प्राप्त होती है। यदि कोई वक्ता बारह वर्ष तक पूर्ण रूप से सत्यवादी रहे तो उसकी प्रत्येक बात यथार्थ होगी।

किसी भी पदार्थ की सत्ता को समझने और समझाने के लिए वस्तु, ज्ञान और वाणी का संग और संगम आवश्यक होता है। मान लीजिए मेज पर 'जीवन-साहित्य' है। अब उसमें तीन प्रकार की सत्ता विद्यमान है। 'जीवन-साहित्य' नामक पत्रिका की सत्ता है। 'जीवन-साहित्य' जानने वाले ज्ञान की सत्ता है और 'जीवन-साहित्य' शब्द-वाणी की भी सत्ता है। इस प्रकार ज्ञान भी सत्य है। वाणी भी सत्य है और वस्तु तो सत्य है ही। जब वस्तु, ज्ञान और वाणी में संगति नहीं

बैठती, तब उसका परिणाम सत्य की अपेक्षा असत्य हो जाता है।

मान लीजिये कोई अपने मुँह से बोले, 'जीवन साहित्य' और संकेत करे 'सम्यग्ज्ञान' की ओर तो वाणी असत्य हो जायेगी। इसी प्रकार सामने तो 'जीवन-साहित्य' हो और हम उसे समझें-मानें 'सम्यग्ज्ञान' तो हमारी यह समझ और हमारा यह ज्ञान असत्य हो जायगा। 'जीवन-साहित्य' स्वयं तो असत्य होने से रहा। 'जीवन-साहित्य' तो कभी असत्य हो ही नहीं सकता। वह तो अपना जैसा है, वैसा निज स्वरूप में है। इस प्रयोग से यह सिद्ध हो गया कि असत्य वस्तु में नहीं, अपितु उसे जानने वाले ज्ञान में हो सकता है। उसे मानने वाली श्रद्धा में हो सकता है अथवा उसे कहने वाली वाणी में हो सकता है। सार और संक्षेप में कहा जा सकता है कि अज्ञानियों के ज्ञान, श्रद्धान और वाणी-विधान के अतिरिक्त लोक में असत्य नामक कोई सत्ता है ही नहीं।

संसार में सर्वत्र सत्य का साम्राज्य है। असत्य तो हमारी दृष्टि में है। इस सम्बन्ध में एक जीवंत घटना का स्मरण होना हुआ है।

'फूल चौराहा' अलीगढ़ का पुराना व्यापारिक स्थल है। यहाँ एक स्तरीय दुकान है। कुछ खरीदने के लिए दो-तीन सीढ़ियाँ चढ़कर उस दुकान पर पहुँचना होता है। एक बार मैं कुछ खरीदने के लिए उस दुकान पर गया। सीढ़ियों पर चढ़ा ही था कि वहीं पर ठिठक गया। एक युवती दर्पण खरीद रही थी और उसके साथ तीन-चार युवतियाँ उसकी पसंद में सहयोग कर रही थीं।

दुकानदार ने अनेक दर्पण उन्हें दिखलाये थे। हर नये दर्पण को वे देखतीं और उसे अस्वीकार कर देतीं। उन्होंने सभी दर्पणों में स्वयं को देख कर नापसन्द कर दिया था। अन्त में उन युवतियों में से एक ने कहा, बेल्जियम का कोई नया मॉडल दिखलाइए। उन्हें बेल्जियम का दर्पण भी दिखलाया गया, किन्तु उसे भी अस्वीकार कर दिया गया। उनके इस निर्णय को देखकर, सुनकर मुझसे नहीं रहा गया। मैंने तब कहा था—दर्पण का क्या दोष, जब शक्ल ही ऐसी है? मेरी इस टिप्पणी को सुनकर युवतियों में हड़कम्प मच गयी। वे तुरन्त दुकान से नीचे उतर आईं। यद्यपि मुझे प्रतीक्षा करते काफी समय हो गया था, तथापि उनके निर्णय पर मुझे टिप्पणी नहीं करनी चाहिए थी।

इस घटना से स्पष्ट है कि दर्पण पदार्थ की सत्ता सत्य है, दोष तो दृष्टि का है। दृष्टि यदि सम्यक् दृष्टि हो तो हमारे सबके सारे झंझट स्वयमेव समाप्त हो जाते हैं।

दृष्टि दोष से आज का आम आदमी नय—व्यवहार और निश्चय—से सर्वथा अलग-थलग होकर अभिनय को प्रश्रय देने लगा है। जो नहीं है, वह बन कर वह दूसरों को प्रभावित करने में पटु है, पारंगत है। इस धारणा से अनुप्राणित होकर आज

हर घर में हर रूम ड्राइंग-रूम नहीं है।

ऐसी स्थिति में लोग सत्य के प्रति उत्साहित नहीं होते, महिमावंत नहीं होते। वे सदा धोखे से प्रभावित होते हैं। ऐसे प्राणी प्रायः यही कहा करते हैं कि सत्य में क्या है? वह तो जो है, सो है ही, उसे दिखाने में क्या रखा है? कमाल तो जो नहीं है, उसे दिखाने में है। विचार कीजिए, हम जन्म से आर्जवधर्मी थे, पर आज हम निरे अनार्जवी हो गए हैं। अनार्जवी कभी सत्य-प्रिय नहीं हो सकता।

सत्य की निर्मलधारा सर्व प्रथम मन में बहती है, बहनी चाहिए, फिर वचन में और तब कहीं आचरण में। मन, वचन और कर्म रूप जिसकी चर्या सत्यवर्ती है, वह आत्मा सचमुच महात्मा है। एक बार पंडित जवाहर लाल नेहरू ने अपने भाषण में कहा था--मैंने डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद जी को जीवन में कभी असत्य बोलते न देखा और न सुना। इस प्रकार राजनीति में भी सत्य का व्यवहार करना सम्भव है।

सत्य का आधार मनुष्य को सदा सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है। सत्य का श्रेष्ठ अभिनन्दन इस बात में है कि हम सब उस पर अपने जीवन में आचरण करें। महात्मा गांधी प्रायः कहा करते थे जो व्यक्ति सत्य को जानता है तथा मन, वचन, काय में सत्य का आचरण करता है, वह व्यक्ति परमात्मा को पहचानता है। एक दिन वह मुक्ति को भी वरण कर सकता है।

सत्य आत्म-शक्ति है और है वाणी की अभिव्यक्ति। लोक में सत्यवादी की सदा जीत होती है। उसकी प्रतिष्ठा होती है और लोकोत्तर में भी देवतागण उसकी वंदना करते हैं। अनुसरण करते हैं।

□□

आत्म-शिखा

जीवन और जगत के संचालन सातत्य में कृष्ण और शुक्ल पक्षों की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण पक्ष अंधकार तज्जन्य अशुभ और अमंगल का परिचायक है, जबकि शुक्ल पक्ष प्रकाश तज्जन्य शुभ और मांगलिक सम्भावनाओं का अभिसूचक है।

प्रकाश जीवन-विकास का मेरुदण्ड है। संसार के शुभ और मांगलिक कार्य प्रकाश में ही सम्पन्न होते हैं, यहाँ तक कि आरम्भ में न्याय की नींव पर आधारित संग्राम भी दिवाकाल अर्थात् प्रकाश में ही सम्पन्न हुआ करते थे। आज मनुष्य के जीवन में अपार उतार-चढ़ाव आए हैं। भारी आपा-धापी के वातावरण में उसे अत्यन्त व्यस्त और तनाव में जीवन जीना पड़ रहा है। रात्रि में कृत्रिम प्रकाश जुटाकर अपने लक्ष्य की पूर्ति हेतु मनुष्य ने साहसिक कदम उठाये हैं। दीप-शिखा उसी कृत्रिम प्रकाश का परिणाम है। प्रकाश की किरण अग-जग में विकीर्णन करना दीप-शिखा का अपना स्वभाव होता है।

दीपक बाहरी माटी का व्यवस्थित रूप है। उसमें प्रयुक्त तैल और बाती वस्तुतः बाहरी देन है। अग्नि की स्फुलिंग भी बाहरी है, फलस्वरूप दीप-शिखा का प्रकाश भी बाह्य प्रदेश को ही प्रकाशित कर सकता है। अपने अन्तर्लोक में व्याप्त अंधकार को मेटने में वह सर्वथा असमर्थ है।

आज आदमी एषणाओं के चक्रव्यूह में फँस गया है कि उसे जीवंत मर्यादाओं को लाँघ कर पूर्णतः बहिर्मुखी होना पड़ा है। उसे प्रत्येक प्रकार की प्राप्ति हेतु बाहरी भाग-दौड़ करनी पड़ती है। वह जीवन की परिधि पर पूरी शक्ति से चक्कर लगा रहा है। दौड़ रहा है, पर उसकी दौड़ उसे कभी केन्द्र तक पहुँचाने में समर्थ नहीं हो सकी। परिधि पर चक्कर लगाने वाला धावक कभी केन्द्र पर नहीं पहुँच सकता। केन्द्र पर पहुँचने के लिए उसे एक शर्त माननी होती है। उसे परिधि की परिक्रमा लगाने में विराम देना होगा, दिशा में परिवर्तन करना होगा। उसे बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होना होगा। ऐसी स्थिति में उसकी पहुँच उसे अन्ततोगत्वा केन्द्र पर पहुँचा देगी।

अपनी इस भाग-दौड़ में मनुष्य भूल गया है कि वह सामाजिक प्राणी है और उसका वास्ता दूसरे लोगों से पड़ता है। आत्म-शिक्षा यही तो दर्शाती है कि समाज के अन्य प्राणी भी तुम्हारी तरह हैं। दूसरों की उपेक्षा का मुख्य कारण यह है कि परिधि और उस पर दौड़ मनुष्य के भौतिक जीवन के द्वार को खोलती है। यहाँ आकर वह मद-मालिन्य से अनुप्राणित राग और द्वेष के द्वन्द्व में फँस जाता है। एषणाओं के व्यामोह में भ्रमित आज का आम आदमी अनेक चित्तों का चक्रवर्ती बन जाता है। उसे विविध चित्तों की चकाचौंध में दूसरों की तो क्या अपनी एकमात्र चेतना का स्मरण ही नहीं रह पाता, चेतना के अभाव में चित्त-समूह का अपना कोई मूल्य और महत्त्व नहीं होता।

प्राकृत जीवन-चर्या से हटकर वह कृत्रिम, आडम्बर-मुखी जीवन जीने का प्रयास करता है। फलस्वरूप उसकी सम्पूर्ण जीवन-यात्रा एक सफल-असफल अभिनेता के अभिनय जैसी बन कर रह जाती है। अभिनय और आडम्बर-मुखी जीवन-चर्या सदा यथार्थ जीवन के आस्वाद से वंचित रहती है। यही कारण है कि आज का आदमी खाना खाता है, पर अन्ततः वह अनखाता है। जागतिक जीवन की प्रत्येक उपलब्धि में उसे बड़ा भारी बोझ अनुभव हो उठता है, क्योंकि उसके अन्तरंग में ओज का उदय नहीं हो पाता।

आत्मिक गुणों के चित्तवन का नाम है भावना। भावना हमारे जीवन के समस्त क्रिया-कलापों की संचालिका है। दान, शील, तप और भाव इन चारों में भाव की ही प्रधानता है। विचार कीजिए, दान दुर्गति को जला देता है, अर्थात् दाता सद्गति ही पाता है। शील सम्पदा का अर्जन करता है अर्थात् सुशीलता से व्यक्ति की शोभा-छवि बनती है। तपस्या से तेजस्विता का विस्तार होता है, अर्थात् तपस्वी बड़ा प्रभावक होता है और भाव से होता है—कल्याण। कल्याण हमारे जीवन का अन्तिम लक्ष्य है, उद्देश्य है। निर्दोष भावना से ही उसे प्राप्त किया जा सकता है। भावना को दूषित करने वाली तीन शल्य हैं :

1. माया शल्य
2. मिथ्यात्व शल्य
3. निदान शल्य

दूसरों को ठगने की वृत्ति वस्तुतः माया है। सत्य पर विश्वास न रखना अथवा असत्य पर विश्वास रखना मिथ्यात्व है। काम-भोग की लालसा रखना निदान है। शल्य से तात्पर्य है काँटा। काँटा शरीर में कहीं कैसा भी चुभता रहे तो उसमें अशान्ति, असन्तोष आदि अस्थिरता उत्पन्न कर देता है। यह सभी मन को एकाग्र नहीं होने देता और अन्ततः उसकी भावना कभी निर्मल नहीं हो पाती।

मानव का अन्तर-हृदय-आँगन का प्रतीक है। जीवन-आँगन जब स्वच्छ,

निर्मल और पवित्र होता है तो आकाश के प्रतीकात्मक गुण उस जीवन में स्वयमेव प्रतिबिम्बित होने लगते हैं। आकाश एक शाश्वत द्रव्य है। उसका लक्षण होता है—रिक्तता, जो प्रत्येक पदार्थ को अवगाहन कराती है। सिक्त होने के लिए रिक्त होना आवश्यक होता है।

आज आम आदमी का अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही स्वार्थ से आक्रांत हैं। उनमें पर के लिए स्थान नहीं है। घिरे जब उघरे तो अन्तरंग आलोक से भर जाता है। जैन दर्शन में उघरने की संस्कृति को अपरिग्रह कहा गया है। अपरिग्रह 'स्व' को पराये हित से जोड़ देता है।

क्रोध, मान, माया और लोभ विषयक कषायों और उनके अनन्त धर्मी व्यापारों से घिरा है आज के आदमी का अन्तरंग। वह उघरे इसके लिए जगत की तमाम धार्मिक मान्यताएँ अपनी-अपनी शब्दावली में अपने-अपने सिद्ध अन्तों का प्रवर्तन करती हैं। सिद्धान्तों का जब आचरण में अभ्यास होता है तब अन्तरंग रिक्त हो जाता है, तभी जीवन में दूसरों के प्रवेश के लिए अवकाश होता है।

ऐसे व्यक्ति के अन्तरंग में आत्मिक गुणों का जागरण होने लगता है और तब आत्म-शिखा प्रज्ज्वलित हो उठती है। उजाले में जैसे सभी बाह्य पदार्थ परिलक्षित हो उठते हैं, उसी प्रकार आत्म-शिखा से आदमी की समग्र भ्रान्तियाँ मिट जाती हैं, फिर बाहर और भीतर का समग्र संसार स्पष्ट दीखने लगता है। दीप-शिखा व्यक्ति को बाहरी बोध का विज्ञ बनाती है, जबकि आत्मशिखा व्यक्ति को सर्वज्ञ की ओर उन्मुख करती है—"एगं जाणइ सव्वजाणइ", अर्थात् जो एक को जानता है, वह सबको जानता है। ज्ञान-प्रकाश सर्वज्ञ-सोपान की प्रथम सीढ़ी है।

जिन प्राणियों के अन्तरंग में आत्म-शिखा आलोकित हो जाती है, वे जागतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में जन-हितकारी बातों का प्रवर्तन किया करते हैं। इस प्रकार अन्तर्प्रकाश से प्रकाशित होकर देश के महान सन्तों ने प्राणियों को उन्मार्ग से हटा कर सन्मार्ग पर चलने की पवित्र प्रेरणा प्रदान की है। राजनैतिक क्षेत्र में महात्मा गांधी ने आत्म-शिखा के प्रकाश से अनुप्राणित होकर शताब्दियों पुरानी दासता से अपने देश को मुक्त कराया था। आजाद देश में सत्य और अहिंसा के माध्यम से समता और एकता-पूर्वक जीवन जीने के मार्ग को प्रशस्त किया था।

परहित की भव्य भावना से सम्पृक्त होकर महामनीषी आचार्य विनोबा भावे ने तत्कालीन सामाजिक कलंक—दस्यु-समस्या—के समापन हेतु आत्मसमर्पण करने की सफल और कारगर प्रेरणा प्रदान की थी, जिससे दलित और दमित उठें और उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त हों। जो दूसरों की भलाई में संलग्न रहता है, उसी का जीवन सार्थक होता है।

□□

कर्म से निष्कर्म

किसी क्रिया का परिणाम होता है कर्म। उपयोग और ललित कर्मों का सूत्रपात कर आम आदमी को श्रम के प्रति आकृष्ट किया गया। श्रम से जीवन में स्वावलम्बन के संस्कार जन्म लेते हैं। श्रम से उपयोग का सुयोग सुलभ होता है। शुभ अथवा अशुभ दो रूपों में कर्म को विभक्त किया गया है। शुभ कर्म जीवन में सुखद परिणाम जुटाते हैं और अशुभ कर्म जुटाते हैं दुःखद परिणाम। कृतयुग के पुरस्कर्त्ता तीर्थंकर ऋषभदेव ने दोनों ही प्रकार के कर्मों के रूप को स्वरूप प्रदान किया है।

कर्म कर्त्ता की मूल प्रवृत्ति होती है। कर्त्ता कर्म का आविष्कर्त्ता होता है और होता है कर्मफल का स्वयं ही भोक्ता। इस प्रकार कर्म से ही कर्त्ता की सार्थकता प्रमाणित होती है। वह कर्म से ही निष्कर्म की यात्रा सम्पन्न करता है। यही वस्तुतः जीवन की उत्तम अवस्था है।

कर्म की आर्थिकता वैविधपूर्ण होती है, जिसका प्रयोग भावों के अनुसार होता है। व्याकरण के षट्कारकों में कर्त्ता-कर्म आदि क्रम में भी कर्म शब्द का उपयोग हुआ है। जो परिणमित होता है वह है कर्त्ता। परिणमित होने वाला जो परिणाम है वह कर्म है और जो परिणति है वह है क्रिया। ये सभी परस्पर में भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं। किसी वस्तु विशेष का स्वभाव रूप कार्य ही उसका कर्म होता है जैसे जल का कार्य है शीतलता, प्रवाहपूर्णता, अग्नि का कार्य है दाहकता तथा आत्मा का स्वभाव है–दर्शन-ज्ञान।

गीता में कर्म, विकर्म और अकर्म की चर्चा हुई है। इसके अनुसार स्वधर्माचरण की ब्राह्य क्रिया ही कर्म है। जब कर्म भाव-बोधपूर्वक किया जाता है तब वह विकर्म कहलाता है। ईश्वर को समर्पित निष्काम कर्म वस्तुतः अकर्म कहलाता है। कर्म और अकर्म के बीच विकर्म सेतु का काम करता है। ध्यान, ज्ञान, पत, भक्ति, निष्काम कर्म, संतुलित अनासक्त जीवन और शुभ संस्कार के साधन विकर्म कहलाते हैं।

बौद्ध विद्वानों ने कषाय प्रेरित कर्मों को बंधन का कारण माना है। मानसिक,

वाचिक और कायिक—ये तीनों प्रकार के कर्म विपाक द्वादश निदान के अंतर्गत आते हैं। वैभाषिक बौद्धों ने कर्म के दो भेद स्वीकार किये हैं—चेतना और चेतनाजन्य। चेतना में मानसिक कर्मों का तथा चेतनाजन्य में वाचिक और कायिक कर्मों का समावेश होता है। चेतनाजन्य कर्म भी दो प्रकार के होते हैं—विज्ञप्ति एवं अविज्ञप्ति। जिन कर्मों का फल प्रकट रूप में होता है, वे विज्ञप्ति कर्म होते हैं। अविज्ञप्ति कर्म अदृष्ट रूप में रहते हैं, और कालान्तर में अपना फल प्रदान करते हैं।

वेदान्त को अद्वैत दर्शन कहा गया है। जहाँ दो नहीं एक ही तत्त्व मुख्य है और वह है ब्रह्म। अविद्या से विविधता के दर्शन होते हैं। अविद्या से काम उत्पन्न होता है। काम, से कर्म उत्पन्न होता है। काम, इच्छा, आसक्ति से प्रेरित होकर प्राणी क्रिया करता है—'कर्म हेतुः काम स्यात्'। यही संसार चक्र है।

वेदान्त में कर्म के तीन प्रकार उल्लिखित हैं—संचित्, क्रियमाण और प्रारब्ध। प्रकारान्तर से भी कर्म के तीन अन्य भेद हो सकते हैं—विहित, निषिद्ध और उदासीन। आसक्ति बंध का मूल है। कषाय मूलक कर्म अवश्य अपना फल देते हैं।

लोकभाषा में कहा जाता है कि 'यथा बीजं तथा फलं' अर्थात् जिस प्रकार का बीज होता है, उसी प्रकार का उसका फल भी होता है। न्याय शास्त्र की भाषा में इसको कार्यकारण भाव कहना संगत होगा। अध्यात्म शास्त्र में इसको क्रियावाद अथवा कर्मवाद कहते हैं। क्रिया ही कालान्तर में कर्म बन जाती है।

कर्म का विशिष्ट रूप है—कला। ऐन्द्रिक और आध्यात्मिक उपयोग से नाना कलाओं का प्रवर्तन किया गया है। कर्म-कला का प्रयोजन होता है जीवन में सुख और समृद्धि का संचार करना। इससे भी ऊपर प्रयोजन की उत्तम परिणति है आवागमन से मुक्ति प्राप्त करना। आवागमन से छुटकारा पाना जीवन अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख अपने अंतरंग में जगाता है।

कर्म जीवन को सक्रिय बनता है। इसी सक्रियता का परिणाम है—संसार। संसार में जीव अपने कर्मानुसार नाना प्रकार की गतियों में जन्म लेकर जीता है, मरता है। कर्म से ही संसार है। कर्म ही जीवन है। कर्म ही सुख और दुःख का दाता है। कर्म से ही यह जीवात्मा परमात्मा हो जाती है।

जब तक वह जीवन को संसरणशीलता से जीता है, तब तक वह संसारी जीव कहलाता है। इस अवस्था में जीव मोह के अधीन रहता है। मोह से अनुप्राणित कर्म और उसका फल प्राणी को मिथ्यात्व की प्रेरणा देता है। मोह से मुक्त होकर जब जीव शुभ कर्मों में ज्ञानपूर्वक प्रवृत्त होता है तब उसे स्व और पर पदार्थों का स्पष्ट अंतर प्रमाणित होने लगता है। इस लक्ष्य को लेकर प्राणी जो कर्म करता है उसका परिणाम होता है—सुख। सुख से शाश्वत सुख की ओर प्रवृत्त होने के लिए जो कर्म किया जाता है, उसका परिणाम होता है—अन्तरात्मा।

अन्तरात्मा जीव का उत्कृष्ट रूप है। इस अवस्था में पहुँचकर प्राणी सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र की आराधना करता हुआ कर्म करता है। दर्शन श्रद्धान को जन्म देता है और ज्ञान शक्ति का संचार करता है जबकि चारित्र तो दर्शन एवं ज्ञान का वैज्ञानिक प्रयोग है। इस त्रिवेणी के तादात्म्य से मोक्षमार्ग का प्रवर्तन होता है। संयम और तपश्चरणपूर्वक जो साधना सम्पन्न होती है वह प्राणी को जागतिक वैभव से मुक्त कर आध्यात्मिक आलोक से भर देती है।

अब ज़रा विचार कीजिए, जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ के साथ जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, तभी बंध की स्थिति बनती है। यह जीव अनादि काल से अष्ट कर्मों—दर्शनावरणी, ज्ञानावरणी, मोहनीय, अन्तराय गोत्र, नाम, आयु और वेदनीय—के बंधनों से जकड़ा हुआ है। इस बंध-बोझ को मोचना वस्तुतः कर्म का कौशल है और इस कौशल का ही परिणाम होता है—मोक्ष। कर्म से निष्कर्म होना ही उसकी मुक्तावस्था है। इस प्राकृत कर्म-विधान में कोई शक्ति कभी परिवर्तन नहीं कर सकती है। यदि इसमें कोई परिवर्तन कर सकता है तो उस कर्म का कर्त्ता ही स्वयं उन कर्मों को न कर अपने में परिवर्तन ला सकता है। सत्कर्म सब धर्मों का सार है।

□□

गुण : गरिमा और महिमा

संसार में अनन्त पदार्थ हैं। प्रत्येक पदार्थ में अपने स्वभाव हैं। पदार्थ का स्वभाव ही उसका गुण कहलाता है।

गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं। जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामक षट् द्रव्यों में संसार के सभी द्रव्य-मैटर अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। द्रव्यों का समूह संसार के रूप को स्वरूप प्रदान करता है। इस प्रकार संसार में प्रशंसनीय बात है उसके द्रव्यों में व्याप्त सद्गुण।

गुण सदा शाश्वत होते हैं। उनके रूप में परिवर्तन हो सकता है, किन्तु उनके स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं होता। जो सदा है, शाश्वत है, वह सामान्यत: असामान्य अथवा विशिष्ट हमारे आकर्षण का आधार होता है।

पदार्थ का स्वभाव वस्तुतः प्रकृति का धर्म होता है। धर्म शब्द का अर्थ है दुर्गति में सरकती आत्मा को धारण कर सद्गति की ओर ले जाने वाला। धर्म सद्विचारों का पोषक तथा सदाचार का सन्देश वाहक होता है, जिसमें विचारों का आग्रह या दुराग्रह न हो और जो आत्म-शुद्धि का साधन बनता हो। इसीलिए धर्म सदा पूजनीय होता है। फलस्वरूप संसार में गुणवंत की सर्वदा पूजा होती है। गुणवंत अथवा गुणीजन की पूजा का आधार है उसमें व्याप्त गुणराशि। कहा भी है–'गुण्यते मिद्यते विशिष्यतेऽनेन द्रव्यमिति गुण:' अर्थात् जिसके द्वारा द्रव्य में गुणवत्ता अथवा विशेषता आपादित होती है, वस्तुत: वह गुण है। इस प्रकार किसी में यदि पूज्यता है तो वह उसमें व्याप्त गुण गरिमा के कारण है।

मनुष्य प्राणधारियों में श्रेष्ठ प्राणी है। उसकी श्रेष्ठता का आधार है आत्मिक गुणों की पहचान और उन तक पहुँचने की अभिलाषा। आज मनुष्य ने अनन्त आकाश का पता लगाया है, अपरिमित भूमि की खोज की है और महासागरों की गहराइयों में डुबकियाँ लगाई हैं। वह पाताल तक पहुँचा है। उसकी पहुँच वास्तव में असीम है। अपनी जागतिक सुख-सुविधाओं के लिए उसने विभिन्न आविष्कार किए हैं।

उसने सम्पूर्ण प्रकृति को वैज्ञानिक आँख से आँका है, परन्तु दुःखद आश्चर्य है कि मनुष्य ने अपने आस-पास खड़े, अपने ही समान, अपने साधर्मी बन्धु-मनुष्य को नहीं पहचाना है। जबतक मनुष्य मनुष्य को पहचान नहीं लेता तब तक उसकी सारी पहचान और पहुँच निरर्थक ही है।

मनुष्य लिबास से नहीं, मनुष्य भोजन से नहीं, मनुष्य भाषा से नहीं पहचाना जाता, उसकी असली पहचान किसी परिचय-पत्र से नहीं हो पाती। परिचय-पत्र उसके बाहरी हाव और हुलिया का उल्लेख भर करते हैं। वास्तविक पहचान तो मनुष्य में व्याप्त उसके आत्मिक गुणों के माध्यम से की जाती है।

स्वार्थी व्यक्ति अपने दृष्टिकोण से ही जगत को देखता है और अपने विचारों के अनुरूप ही उसे जानने का प्रयास करता है। सम्भवतः यह आज के समाज में व्याप्त संघर्ष और समस्याओं का मूल कारण है। इसके स्थान पर यदि पवित्र धर्म-ग्रन्थों के वातायन से आध्यात्मिक जीवन दृष्टि को अपनाया जाये तो हमारे जीवन में सुख और समृद्धि का संचार हो सकता है। आप विचार कीजिये—पाण्डित्य प्रकृति के रहस्यों को उजागर करने में नहीं है अपितु अपने जीवन के रहस्यों को विश्लेषित करने में है, उनको जाँचने-परखने में है। प्रकृति मात्र आत्मा की प्रयोगशाला है। यहाँ परमात्मा कोई अजनबी वस्तु नहीं है, कोई सर्वथा नवीन-भिन्न तत्त्व नहीं है अपितु वह आत्मा का परम विकसित विशुद्ध-निर्मल स्वरूप ही है। प्रत्येक आत्मा अन्ततः परमात्मा बन सकती है, यदि उसे विशुद्ध बनाया जाये।

गुणों को जानने वाला ही गुणी को देखकर प्रसन्न होता है। गुणहीन को गुणी से सन्तोष नहीं होता। भौंरा जंगल से कमल तक आता है परन्तु मेढ़क कमल के समीप रहकर भी कमल की सुगंध से आकर्षित नहीं होता।

जिनमें गुणों की उपस्थिति होती है, उन्हीं की गरिमा चिरंजीवी रहती है। गुणीजन सदा दूसरों की ही चिन्ता करते हैं, अपनी नहीं। उनमें दया होती है इसीलिए उनकी भावना में मानवता भरी रहती है। यही मानवता उनमें मित्रता की पात्रता पैदा करती है।

जो गुण गुणज्ञों के पास जाकर गुण बनते हैं, वे ही निर्गुण को पाकर दोष बन जाते हैं। नदियों का जल बहता है, वह अत्यंत स्वादिष्ट होता है किन्तु समुद्र को प्राप्त कर वही जल अपेय अर्थात् खारा बन जाता है।

गुणवंत कभी अपनी प्रशंसा नहीं करते हैं और न वे कभी दूसरों की निन्दा करते हैं। वे विपरीत परिस्थिति में सदा मध्यस्थ भाव रखते हैं।

विचार कीजिये, शासक का स्वभाव शासन करना होता है। वह दूसरों पर शासन कर अपना काम लेता है, जबकि शास्ता का स्वभाव अनुशासन प्रिय होता है। शासन व्यक्ति को परावलम्बी बनाता है, जबकि अनुशासन बनाता है स्वावलम्बी।

स्वावलम्बी गुणीजनों को देखकर आल्हादित होता है और उसकी सदा भावना रहती है कि वह गुणी जनों की सेवा और सुश्रूषा कर अपने को सन्तोष और सुख से सम्पृक्त करे। यही उसकी गरिमा है और यही है उसकी महिमा।

राजा अपने राज्य में, राज्यपाल अपने प्रदेश में, अधिकारी अपने अधिकार क्षेत्र में मात्र सम्मानित होता है किन्तु गुणीजन प्रत्येक क्षेत्र में, प्रत्येक काल में और प्रत्येक परिस्थिति में सदा-सर्वदा सम्मानित होता है।

❑❑

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र में देवत्व

प्राण-धारियों में मनुष्य श्रेष्ठ और वरिष्ठ प्राणी है। इसकी श्रेष्ठता और वरिष्ठता का मूल आधार है, इसमें व्याप्त ज्ञान तथा श्रद्धान-पूर्वक श्रम करने की अपूर्व क्षमता और सामर्थ्य। मानवीय संस्कृति के दो छोर हैं—देव और दानव। देव उदात्त और दानव आसुरी वृत्तियों का पोषण करते हैं।

मनुष्य जन्म से नहीं, अपने कर्म से महान बनता है। इस शुभ धारणा ने उसमें श्रम-करम करने के संस्कार उत्पन्न कर दिये हैं। सत्कर्म जीवन में सत्संस्कार उत्पन्न करते हैं। असत्कर्म से कुसंस्कारों का संचरण होता है। सत्संस्कारों से अनुप्राणित कृत संस्कृत, और जब/कर्म में विकारों का संचार होता है, तब जीवन विकृत हो उठता है। संस्कृति का सुफल है—देव जबकि दानव विकृति का परिणाम है।

देव की लोक में मान्यता रही है। देव वह शक्ति विशेष है, जो हमें, कुछ या सब कुछ देती है। जागतिक अथवा आध्यात्मिक मांग और मनौती पूरने के लिए हम प्राय: देव की वन्दना और पूजा करते हैं। प्रसन्न होकर देव-दातार की भूमिका का निर्वाह कर हमारी मनौतियाँ प्राय: पूरी करते हैं। आप विचार कीजिए इस धारणा और अवधारणा से व्यक्ति में परावलम्बन के संस्कार उत्पन्न होते हैं।

देव विषयक दूसरी मान्यता है कि देव वस्तुत: जीव की परिष्कृत परिणति है जहाँ पहुँच कर उसकी आत्मिक दीप्ति प्रकाशित हो उठती है। इस प्रदीप्ति से आलोकित होकर प्राणी अपने अन्तरंग में प्रसुप्त आत्म शक्ति-देवत्व को जगाता है और जागृत आत्मशक्ति से जागतिक और आत्मिक अभिप्रेत सहज रूप में परिणत हो जाते हैं। इस ज्ञान और श्रद्धान से प्राणी में स्वालम्बन के संस्कार उत्पन्न होते हैं। व्यक्ति अपने सत्कर्म से, सम्यक् श्रम साधना से जागतिक, आध्यात्मिक सभी मनोरथों की अन्तत: पूर्ति कर लेता है। ऐसी स्थिति में उसका देवत्व मुखर हो उठता है।

दानव दु:ख और द्वन्द्व का जनक होता है, जबकि देव द्वारा जीवन में सुख

और समृद्धि का संचार हो उठता है। प्रत्येक प्राणी सुख-प्रिय है। उसे किसी अवस्था में दुःख स्वीकार नहीं है। इस प्रकार देव और देवत्व की संस्कृति जन-जीवन में आरंभ से ही समादृत रही है।

मोह से प्राणी की सोच और समझ संकीर्ण हो जाती है फलस्वरूप वह दूसरों के हित-अहित पर विचार नहीं करता केवल अपनी स्वार्थ-साधना में तल्लीन रहता है। ऐसी दशा में उसकी दृष्टि से सम्यक्त्व खिसक जाता है और होने लगता है ममत्व का संचरण।

ऐसी स्थिति में हमारे अन्तरंग प्रायः कषायजन्य प्रवृत्तियों से आक्रान्त होने लगते हैं। क्रोध से बुद्धि का विनाश हो जाता है। इससे शरीर और चेतना दोनों ही प्रभावित होने लगते हैं। मान से मैत्री के संस्कार शीर्ण और समाप्त हो जाते हैं। जीवन में अहंकारी मनोवृत्तियाँ मुखर हो उठती हैं। माया से जीवन का सारल्य समाप्त हो जाता है। जीवन में कपट जैसे दूषण अनाहूत प्रवेश कर लेते हैं। आडम्बर और प्रदर्शनकारी प्रवृत्तियाँ जग जाती हैं। ऐसी स्थिति में हर घर में ड्राइंगरूम व्यवस्थित होने लगते हैं। हर घर ड्राइंगरूम नहीं होता, फलस्वरूप परस्पर में धोखा-प्रवंचना जैसी कुवृत्तियाँ सक्रिय हो उठती हैं। धीरे-धीरे हमारी चर्या दानवी कुवृत्तियों से अनुप्राणित स्व और पर दोनों के विनाश में सक्रिय हो जाती है। विचार कीजिए, चोरी करने वाले की स्वयं की भी चोरी होती जाती है। यह उस समय चोर को महसूस तक नहीं हो पाता। दरअसल उसकी अचौर्य वृत्ति की चोरी होती जाती है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि जीवन में दानव प्रवेश कर लेता है और तब परस्पर में द्वेष और द्वन्द्व का ताण्डव होने लगता है।

कहते हैं, गांधीजी से किसी आगत जिज्ञासु ने पूछा, "बापू! हम चाहते हैं कि हमारे परिवार में सुख और शान्ति का संचार हो उठे। कृपया कोई कारगर उपाय बतलाइए।" गांधी जी चरखा कात रहे थे। मुस्कराते हुए उन्होंने चरखे की ओर इंगित करते हुए कहा, "जीवन में श्रम के संस्कार जगाइए। सम्यक् श्रम से व्यक्ति में उपयोग करने की सामर्थ्य और शक्ति का उदय होता है। फलस्वरूप जीवन में स्वालम्बन के संस्कार उद्भूत होते हैं। स्वावलम्बी सदा सुखी रहता है। आज हमारे जीवन ने श्रम से तलाक ही ले लिया है।"

हम दूसरों को उठा रहे हैं। हमें स्वयं को उठाना चाहिए। जब हम स्वयं उठेंगे तभी हममें गिरते हुओं को उठाने के संस्कार स्वयमेव जागृत होंगे। कहा भी है-"सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से, उसका असर राष्ट्र पर हो।"

जब हमारे जीवन में सोया हुआ देवत्व जाग उठेगा, तभी हम दूसरों में सोये देवता को जगा सकेंगे। विडम्बना यह है कि आज का आदमी स्वयं तो सोया हुआ है और सोया हुआ जगे को जगा रहा है। पूजा हो, चाहे हो नमाज, सब की सब

निरर्थक हो रही हैं। ये सभी प्रार्थनाएँ तभी सार्थक होंगी जब हमारा प्रसुप्त देवता जाग्रत होगा। ऐसी दशा में दूसरे के दर्द में हम हमदर्द बन कर आगे आयेंगे और हमारे सारे सुख सभी के सुख अनुभूत हो उठेंगे।

परस्पर में हम सब देव बनें, यह मंगलकारी कामना है। इसका अभिप्राय यह है कि समुदाय और समाज में जब प्रत्येक प्राणी देव होगा, तब जन-जीवन में सुख और समृद्धि का स्वयमेव संचार हो उठेगा। भावना भास्वर हो उठेगी:

सुखी रहें सब जीव जगत के,
कोई कभी न घबरावे।
बैर-पाप अभिमान छोड़,
जग नित्य नये मंगल गावे।।

□□

लक्ष्य की ओर बढ़ो

कर्त्ता, कर्म और क्रिया पुरुष और पुरुषार्थ के प्रमुख अवयव हैं। कर्त्ता है, कर्म है और क्रिया है, तो जीवन में सक्रियता का संचार होता है। कर्त्ता कर्म करता है। कर्म दो प्रकार के होते हैं—शुभ और अशुभ, तज्जन्य साता और असाता। कर्म का परिणाम कर्त्ता को भोगना होता है। इसलिए यदि कर्म शुभ और शुद्ध हों तो उनका परिणाम शुभ और शुद्ध होगा और तब वे जीवन में सुख और समृद्धि का संचार करते हैं।

जीवन में जब शक्ति और सामर्थ्य समाप्त हो जाते हैं, तब परिणाम हाथ आता है, निस्तेज। ऐसी स्थिति में काम-काज से हाथ धोकर बैठना होता है। बैठना अथवा बैठ जाना क्रिया, जीवन्त ऊर्जा चुक जाने की द्योतक होती है। शक्ति अथवा सामर्थ्य चुक जाने पर लोक में मान्यता जन्म ले लेती है—"व्यक्ति विशेष की बधिया बैठ गयी।" इस लोक-मान्यता का सामान्यतः अभिप्राय यही होता है कि अमुक व्यक्ति में कुछ करने की शक्ति नहीं रही। उसके जीवन में कुछ करने-कराने की असमर्थता घनीभूत हो उठती है।

जो प्राणी निराश और निराश्रित होकर पुरुषार्थ करने-कराने से विवश होकर बैठ जाते हैं, उनका जीवन प्रमाद और मूर्च्छा से सम्पृक्त हो जाता है। ऐसे लोगों को प्रायः प्रेरित किया जाता है—उठिये और अपनी हिम्मत को, अपने मनोबल को जीवित कीजिए। लोकोक्ति है—'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।' भला, हारना किसको रुचिकर है? जीवन में जीत सभी को प्रिय है। मनोबल उठने से व्यक्ति के उठने और उठाने की सम्भावना चिरंजीवी हो जाती है।

जीवन में गति उत्पन्न हो, इसके लिए उठना पहली शर्त है। बैठने से संचरण में स्थिरता का संचार हो उठता है। स्थिरता अथवा ठहराव से जीवन में गंदगी उत्पन्न होती है। ठहराव सदा मैल को निमंत्रण देता है, जबकि बहाव से निर्मलता उत्पन्न होती है। तालाब के जल में भला वह निर्मलता कहाँ और कैसे सम्भव है, जो नदी के बहते जल-प्रवाह में सहज उपलब्ध है?

बैठने से जीवन में निष्क्रियता का आगम होता है। जीवन की ऐसी दशा अन्ततः अपनी दुर्दशा को प्राप्त होती है, जहाँ प्रमाद और मूर्च्छा का प्राधान्य रहता है। तीर्थंकर महावीर और उनके परवर्ती मुनि-मनीषियों ने दुहराया कि प्रमाद और मूर्च्छा वस्तुतः प्रसुप्तता के जनक हैं। अतः जाग्रत जीवन सदा विकास को प्राप्त होता है। इसी सत्य के आधार पर लोकोक्ति प्रसिद्ध हो गयी, "जो सोवे सो खोवे, जो जागे सो पावे।"

मोह मूर्च्छा का मेरुदण्ड है। इसी से जीवन में क्रोध, मान, माया और लोभ जैसी कुवृत्तियाँ अनाहूत प्रवेश कर लेती हैं। इन दूषणों से दूर होना वस्तुतः सरल नहीं होता। ये मौरूसी किरायेदार की भाँति दहलीज में दाखिल हो जाते हैं और फिर ऐसे पैर जमाकर बैठ जाते हैं कि निकलने का नाम ही नहीं लेते।

शुभ संकल्प और दृढ़ता-पूर्वक तपश्चरण करके क्रोध पर काबू पाया जा सकता है। बोध होने पर क्रोध का अन्त प्रायः निश्चित हो जाता है। आर्जवी धर्म लक्षण के उदय होने पर माया-तज्जन्य कपट-व्यवहार से पिण्ड छुड़ाया जा सकता है और तब जीवन में मन, वचन और कर्म की एकसारता को पैदा किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में कपट-मायाचारी जैसे भयंकर दूषण से छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है।

जीवन में जब प्रत्येक प्राणी के प्रति सम और सहज भाव उत्पन्न होने लगते हैं, तब जीवन-चर्या समता और समत्व से सम्पृक्त हो उठती है। महात्मा गांधी कहा करते थे, "अनासक्ति का दूसरा नाम समभाव है।" समता के संचरण से जीवन में मान और अभिमान के लिए कोई ठिकाना शेष नहीं रहता। गांधीजी की मान्यता थी, "धन, सत्ता और मान मनुष्य से कितने पाप और अनर्थ कराते हैं।" इनसे बचने के लिए जीवन में प्रेम का उद्भव आवश्यक है। जब सारे मान सम्मान हो जाते हैं तब प्रेम की उत्पत्ति होती है। प्रेम-पूर्ण व्यवहार सर्वोदय की भावना को प्रोन्नत करता है।

जाग्रत जीवन-चर्या में इन कषायिक कौतुकों के लिए कोई आकर्षण शेष नहीं रहता। सच्चा कर्म कभी निकम्मा नहीं होता है, फलस्वरूप सम्यक् और जाग्रत श्रम-साधना से लोभ-विषयक सभी मनोवृत्तियों का अन्त हो जाता है।

निर्लोभी जीवन-चर्या निश्चिंतता की श्वास लेती है। महात्मा गांधी की मान्यता है कि जो भीतर से स्वच्छ है, वह बाहर से अस्वच्छ हो ही नहीं सकता। लोभ के अन्त से अस्वच्छता का सर्वान्त हो जाता है।

इसीलिए कहा जाता है कि प्रमाद को छोड़िये और उठिये, जागिये और जीवन की दौड़ में आगे बढ़िये, तभी जीवन और जीवंत पुरुषार्थ की सार्थकता है। केवल इस सूत्र, 'उत्तिष्ठत जाग्रत' को जानने और मानने से हमारे और सबके जीवन में

सुख और समृद्धि का संचार हो सकता है।

दो जीवंत घटनाओं के द्वारा पाठकों का ध्यान आकृष्ट करता हूँ।

लंदन में दीनबन्धु एण्ड्रूज एक शराबी को समझाने उसके पास रोज जाते थे। शराबी कहता, "मुझे भगवान में श्रद्धा नहीं है।" तब दीनबन्धु कहते, "भगवान को तुम में विश्वास है।" प्रकाश को श्रद्धा है कि वह अंधकार को दूर कर सकेगा, उसी प्रकार ज्ञानी को विश्वास होता है कि शराबी में और चोर में, भी दिव्य आत्मा का निवास है। उसी दिव्य आत्मा को ऊपर उठा सकेंगे तो आत्मा को परमात्मा बना पायेंगे।

एक सराय में दो व्यक्ति ठहरे। सराय गन्दी थी। पहला व्यक्ति जितनी देर वहाँ रहा, उसकी गंदगी पर कुढ़ता रहा और दुःखी होता रहा। दूसरे व्यक्ति ने उतने समय तक सराय की सफाई की और सफाई से सुखी हुआ। सराय वही थी, किन्तु एक दुःखी और दूसरा सुखी हुआ। जीवन में सृजन से बड़ा और कोई सुख नहीं है। सेवा से बड़ा और कोई सुख है? नहीं। सुख चाहते हो तो जीवन की सराय को जैसा पाया है, उसे अपने पीछे आने वालों के लिए, और सुन्दर, और स्वच्छ छोड़ जाने के लिए श्रम करो। सौन्दर्य के सृजन में निश्चय ही सुख है।

□□

राष्ट्र और हम

राष्ट्र वस्तुतः 'नेशन' का पर्याय है। राष्ट्र में सामूहिक जीवन, सामूहिक विकास और सामूहिक आत्म-सम्मान की भावना का उदय और उत्थान होता है। राष्ट्र का विकास और वर्द्धन का मूल आधार उसके निवासियों की एकता पर निर्भर करता है।

अर्द्ध शताब्दी पूर्व हमारा देश पूर्णतः स्वतंत्र हो गया था। उसका अपना ध्वज और अपना ध्वजगान गूँजने लगा। अपना विधान और अपना संविधान लागू किया गया। शासन और सिंहासन का संचालन अपने ही प्रतिनिधि करने लगे। राष्ट्रवासियों में स्वतंत्र राष्ट्र का गौरव और गरिमा का अनुभव होने लगा। आजादी का उल्लास लोगों के रोम-रोम से बिखर उठा।

व्यक्तियों की एक साथ मिलकर रहने की अदम्य इच्छा ही राष्ट्रीयता की जननी है। साम्प्रदायिकता, संकीर्णता, अज्ञानिता और अंधविश्वास राष्ट्र को कमजोर बनाते हैं। साम्प्रदायिकता का विष किसी भी राष्ट्र को विनाश के कगार पर पहुँचा देता है। भारत को आजादी के बाद भी साम्प्रदायिक विष को पीना पड़ रहा है। अलीगढ़ में आग सुलगती है, तो मेरठ-मुरादाबाद, बनारस और बम्बई भयंकर विस्फोटों के शिकार होते हैं।

संकीर्ण मनोवृत्ति राष्ट्र-विकास में प्रमुख बाधा है। अनेक जातियों वाला राष्ट्र अपनी-अपनी जाति के स्वार्थों में जूझता है, फलस्वरूप राष्ट्र कमजोर होता है। स्वतंत्र राष्ट्र में उसके देशवासी परस्पर में समान हैं। सबको आगे बढ़ने का अवसर मिलना चाहिए। व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष राजकीय सुख और सुविधा को भोगने में लगेगा और शेष वंचित रहेंगे तो समुदाय और समाज में आक्रोश उत्पन्न होगा। इससे गुणवत्ता प्रभावित होगी और सुयोग्य नागरिक विदेशों में पलायन करने लगेंगे। इससे राष्ट्र कमजोर होगा।

व्यक्ति-उदय, वर्ग-उदय की अपेक्षा पूरे राष्ट्रवासियों-सर्वोदय के लिए राष्ट्र के द्वार खुले होने चाहिए। वर्ग-संघर्ष प्रांतीयता के झगड़ों का रूप धारण कर लेता

है, इससे राष्ट्र की संघ-शक्ति स्वयमेव निर्बल हो जाती है। पूरे राष्ट्र में पानी, बिजली, संचार आदि के लिए खींचा-तानी मची हुई है। इससे जनता की शांति भंग होती है और इससे विकास का ह्रास होने लगता है।

राष्ट्रीय भाषा के प्रश्न को लेकर समाज और समुदाय में द्वेष के द्वन्द्व उठ खड़े होते हैं। यद्यपि हिन्दी राष्ट्र की भाषा है तथापि इसको लेकर छिछली राजनीति-'हिन्दी हम पर थोपी जा रही है' की भावना को भास्वर करती है। इस दृष्टि से उत्तर और दक्षिण का भाषावाद राष्ट्र की एकता का स्वप्न भंग करता है।

जब कोई राष्ट्र अपने पैरों पर खड़ा होकर अपने विकास में सक्रिय होता है तो पड़ोसी देश उसकी एकता को तोड़ने का प्रयास करते हैं। हमारे राष्ट्र में आतंकवाद का उदय एक अभिशाप बन गया है। इससे राष्ट्र-विरोध का वातावरण पैदा होता है। अनाहूत निरपराध व्यक्तियों की हत्यायें, आगजनी और माँ-बहनों पर जघन्य अत्याचार किये जाते रहे हैं।

जनता भयभीत हो जाती है। शांति का माहौल बनाने के लिए जनता के मन से भय को निकालना परम आवश्यक है। जो रास्ता भटक गये हैं, उन्हें राष्ट्र की मुख्य धारा से पुनः जोड़ना होगा, तभी आतंकवाद से छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है।

राष्ट्रीय एकता के लिए राष्ट्रवासियों में आत्मिक गुणों को जगाने की परम आवश्यकता है। जिस राष्ट्र के वासियों में श्रम के संस्कार शिथिल अथवा समाप्त हो गये हैं, वह राष्ट्र कभी स्वावलम्बी नहीं रह सकता, जबकि व्यक्ति की चर्या श्रमी होती है तभी स्वावलम्बन के संस्कार जन्म लेते हैं। श्रमी सदा संयमी होता है। संयम ही जीवन है। इससे पारस्परिक सौहार्द और सहानुभूति का वातावरण उत्पन्न होता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत हमारे राजनेताओं ने राष्ट्र में बड़े-बड़े बाँध, कल-कारखाने और प्रशस्त राजमार्ग तो तैयार कर दिये हैं पर उनका उपयोग करनेवाले प्रयोक्ता के निर्माण पर विचार ही नहीं किया। भौतिक सुख-सुविधाएँ जुटाने वाले सभी साधनों से राष्ट्र भले ही समृद्ध हो जाये, पर यदि उसके निवासियों का चारित्र पतित हो जायेगा तो सारी प्रगति निरर्थक हो जायेगी।

जीवन में वैयक्तिक स्वार्थ और संग्रह की प्रवृत्ति को समाप्त किये बिना राष्ट्र का विकास सम्भव नहीं है। समन्वय और सहिष्णुता की भावना को व्यावहारिक रूप प्रदान करना परमावश्यक है। इससे जीवन में कर्त्तव्य निष्ठा, आत्मानुशासन, सदाचार तथा उदारता जैसे उदात्त भावों का संचार होगा। राष्ट्रीय एकता के इस महायज्ञ को पूर्णतः सफल करने के लिए जीवन में धार्मिक संस्कार उत्पन्न करना आवश्यक है। प्रत्येक राष्ट्रवासी अनुभव कर उठे कि हम स्वयं राष्ट्र हैं और हम

सब राष्ट्रवासी एक हैं।

राजनेता और विद्वान किसी राष्ट्र को सन्मार्ग पर ले जाने का दायित्व-निर्वाह कर सकते हैं। अपने प्रामाणिक जीवन के द्वारा वे राष्ट्र में अभय तथा विश्वास का वातावरण उत्पन्न करें। परस्पर में मैत्री के भाव जगायें। राजनेता राष्ट्रीय एकता के लिए अपनी कथनी और करनी में समानता लायें। राष्ट्रवासियों को राष्ट्र धर्म के स्वरूप और शक्ति को उजागर करना चाहिए, तभी राष्ट्रव्यापी सुख और शांति की स्थापना हो सकती है।

□□

सत्य एक : अभिव्यक्ति अनेक

सत्य आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव की सदा अनुभूति होती है। उसकी अभिव्यक्ति प्रायः सम्भव नहीं। सावधानीपूर्वक जो अभिव्यक्ति की जाती है, वह उस विराट सत्य का मात्र अंश होता है।

संसार के प्रत्येक पदार्थ तथा प्राणी में अनन्त धर्म गुण विद्यमान हैं। विज्ञ उन्हें जानते और पहचानते हैं, पर उसे पूर्णतः अभिव्यक्त नहीं कर पाते। एक समय में एक बार में सत्य के अंश मात्र को व्यक्त किया जा सकता है। सत्य की पूर्णाभिव्यक्ति लौकिक नहीं, अलौकिक होती है। वह परा, पश्यंति, मध्यमा और बैखरी के माध्यम से नहीं बिखरती। वह वस्तुतः चारित्रिक वातायन से अभिव्यक्त हुआ करती है। उसे सुन-समझ कर श्रोता के सारे विरोध अनुरोध में बदल जाते हैं।

एक ही सत्य को विज्ञ जिस रूप में अभिव्यक्त करता है, उसमें सत्य की पूर्णता नहीं होती, फलस्वरूप श्रोता-समुदाय में वैचारिक मत-भेद की सम्भावना चिरंजीवी हो उठती है। व्यक्ति का दर्शन श्रद्धान उसे दृष्टि प्रदान करता है। दृष्टि जिस अपेक्षा से देखती है, उसे दृश्य तद्नरूप दिखलाई देता है।

मनुष्य की दृष्टि सम्पूर्ण सृष्टि को एक साथ एक ही समय में देखने में प्रायः असमर्थ होती है। इसीलिए विज्ञ और विद्वान् उसे विभिन्न रूप में शब्दायित करते हैं–एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति। इस प्रकार एक ही सत्य की विविध प्रकार से की गई अभिव्यक्ति में भिन्नता परिलक्षित है। यही भिन्नता तत्काल अथवा अन्तराल में वैचारिक द्वन्द्व और द्वेष का मूल आधार बन जाती है।

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व महाश्रमण महावीर ने समुदाय और समाज में व्याप्त वैचारिक विद्वेष को शांत और शमन करने के लिए जिस सिद्धान्त और शैली का प्रवर्तन किया था, उसे लोक में क्रमशः अनेकांत और स्याद्वाद के नाम से अभिहित किया जाता है। अनेकान्त और स्याद्वाद के सहयोग से सत्य की जिस प्रकार अभिव्यक्ति की जाती है, उसमें सत्यांश के होते हुए भी संघर्ष के लिए कोई

सम्भावना शेष नहीं रहती।

अनेकान्त एक सिद्धान्त है। संसार के प्रत्येक पदार्थ में अनंत गुण धर्म विद्यमान हैं। इस मान्यता को यह सिद्धान्त जन्म देता है। तत्काल और कालान्तर में यह सिद्धान्त निर्बाध और निर्विरोध स्वीकार किया गया, किन्तु स्याद्वाद शैली अथवा पद्धति को कालान्तर में कतिपय विद्वानों द्वारा अपूर्ण और सदोष कह कर निरस्त कर दिया गया। आज के निष्पक्ष और वैज्ञानिक विचार और विमर्श ने इसे महत्त्वपूर्ण पद्धति के रूप में अंगीकार किया है। इसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

स्याद्वाद में निहित स्यात् शब्द का अभिप्राय--है कथंचित अथवा अपेक्षा। किसी वस्तु, धर्म, गुण या घटना आदि का किसी अपेक्षा से कथन करना वस्तुतः है--स्याद्वाद। 'अपेक्षा' की दृष्टि द्वारा जो देखा अथवा सुना जाता है, वह सत्य के उस अंश को स्वीकारने में किसी को कोई आपत्ति करने का अवसर नहीं देता।

स्याद्वाद-कथन की शैली विशेष को हम आज की जीवनचर्या में सहज रूप से चरितार्थ कर सकते हैं। उसके प्रयोग से हम निरर्थक सिरदर्द से मुक्त हो सकते हैं।

वस्त्र-विक्रेता (बजाज) से किसी आगत ग्राहक ने पूछा--"यह वस्त्र सूत का है न?' वस्त्र-विक्रेता ने उत्तर दिया, "हाँ यह सूत का है।" अन्य किसी व्यक्ति ने आकर उसी वस्त्र के विषय में पूछा, "यह वस्त्र रेशम का है न?" वस्त्र-विक्रेता ने उत्तर दिया, "नहीं, यह रेशम का नहीं है।" यहाँ कथित वस्त्र के लिए "यह सूत का है" यह बात जितनी सत्य है, उतनी ही, "यह रेशम का नहीं है" यह भी सत्य है। एक ही वस्त्र के विषय में सूत की अपेक्षा से 'है' और रेशम की अपेक्षा से 'नहीं है' का कथन भला किसको अखर सकता है।

इसी प्रकार कोई यह कह उठे कि 'वह पुत्र है' तो वह पिता कैसे हो सकता है? परन्तु वह अपने पिता का पुत्र है तो अपने पुत्र का पिता भी हो सकता है। इस कथन में भला कोई कभी विरुद्धता कैसे आ सकती है? क्योंकि इनकी अपेक्षाओं में समानता नहीं है, वे भिन्न-भिन्न अपेक्षायें हैं। इस प्रकार अपने कथन की अपेक्षा को समझाने के साथ-साथ हमें दूसरों के कथन की अपेक्षा को भी समझने का प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार के प्रयोग से पारस्परिक सोच-समझ में कभी-कोई विरोध अथवा विरुद्धता के लिए अवसर शेष नहीं रह जाता।

दर्शन अथवा समाज के क्षेत्र में सत्य की सत्ता तो सदा एक ही रहती है, उसे अपनी-अपनी अपेक्षा से विद्वान वक्ता जो अभिव्यक्त करते हैं, उसमें वैविध्य का होना सर्वथा सम्भव है, परन्तु सत्य की सत्ता अथवा स्वरूप में कभी कोई विविधता नहीं होती।

महाश्रमण महावीर से सुविज्ञ गौतम पूछते हैं, "भदन्त! सत्य क्या है?" वे

उत्तर देते हैं, "इसे बताया नहीं जा सकता।" "तो हम उसे कैसे जानें?" गौतम ने जिज्ञासा से पुनः पूछा। उन्होंने तत्काल उत्तर दिया, "तुम स्वयं उसे खोजो।" गौतम ने पुनः पूछा, "उसकी खोज कैसे करें?" महामनीषी महावीर ने कहा, "कर्म को छोड़ दो मन को निर्विकल्प करो, मौन व्रत रखो और शरीर को स्थिर रखो।"

गौतम ने विवशतापूर्ण वाणी में पूछा, "भदन्त! फिर जीवन कैसे चलेगा?"

महाश्रमण यह सुनकर मुस्कराये और बोले, "भले प्राणी! संयत कर्म करो। बोलना आवश्यक ही हो तो संयम से बोलो। चलना आवश्यक ही हो तो संयम से चलो। खाना आवश्यक ही हो तो संयम से खाओ। सब कुछ संयम से करो। ये मार्ग हैं, ये सत्य नहीं है। इनका अभ्यास करने से उर-अन्तर में प्रतिष्ठित सत्य को जगाया जा सकता है। इस प्रकार अखण्ड अथवा पूर्ण सत्य का अन्तर में जागरण सम्भव है, उसका शाब्दिक उजागरण नहीं।"

इसी से अनुप्राणित महात्मा गांधी अपने तीन बन्दरों के ब्याज से सत्य को अनुभव करने की संस्तुति करते हैं। उनका पहला बन्दर आंख बन्द कर लेता है। इसका अर्थ है बुरा मत देखो। उनका दूसरा बंदर मुख बंद कर लेता है। इसका अर्थ है बुरा मत बोलो। उनका तीसरा बन्दर कान बंद कर लेता है। इसका अर्थ है बुरा मत सुनो। वे मानते हैं कि जब इन क्रियाओं से बुराई छूटेगी तो भलाई स्वयमेव उदय होगी। भलाई के अभ्यास सातत्य से हम अन्ततः सत्य को अनुभूत कर सकते हैं।

इस संदर्भ में एक जीवंत घटना का मुझे स्मरण हुआ है।

एक छोटे से नगर का एक छोटा-सा परिवार है। वृद्ध विधवा माँ है। उसके दो छोटे-बड़े बेटे हैं। बड़े बेटे का विवाह हो गया है और उसके भी एक लड़का है। लड़के और चाचा की वय बराबर है। बड़ा लड़का किसी बैंक में नौकरी करता है और माँ की पूंजी बैंक में जमा है, जिसका हर महीने निश्चित ब्याज मिला करता है। इस प्रकार परिवार सुख-शान्ति सम्पन्न है।

एक दिन बहू इन दोनों बच्चों को दूध पिलाती है। वह पहले अपने पुत्र को दूध का गिलास थमाती है, बाद में दूध का गिलास अपने देवर को देती है। देवर अचानक अपनी भाभी से कह उठता है, "भाभी यह भेद-भाव?" भाभी हँसती हुई कहती है, "कैसा भेद पगले! गन्दी बातें नहीं करते। शान्तिपूर्वक दूध पिओ।" देवर तुनककर उठा और सीधा अपनी माँ के पास पहुँचा। रोते हुए बोला, "माँ! भाभी ने अपने बेटे को आधा गिलास भरा दूध दिया है और मुझे दिया है आधा गिलास खाली।" यह सुनकर माँ क्रोधित हुई और बहू को तुरंत बुलाया। सास की अदालत में हाजिर होकर बेचारी बहू ने अपनी स्थिति को स्पष्ट तो किया, किन्तु माँ की धारणा पर कोई अन्तर नहीं पड़ा। माँ का क्रोध उग्र होता गया और जब ज्येष्ठ पुत्र

बैंक से घर वापस आया तो उसे सारी कथा सुनने को मिली। विनम्रतापूर्वक उस वैचारिक विद्वेष का उसने प्रक्षालन करना चाहा, पर वह भी अन्ततः असफल रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि इस छोटे से परिवार में विग्रह हो गया और दो चूल्हे अलग-अलग हो गये। सावधानी से विचार नहीं किया गया। आधा गिलास भरा दूध और आधा गिलास खाली दूध, आखिर दोनों गिलासों में दूध का परिमाण तो बराबर ही था।

❑❑

समता का जागरण : राग-द्वेष का निवारण

त्रस और स्थावर जीवियों के इस विशाल ब्रह्माण्ड में मनुष्य वस्तुतः सर्वोत्तम प्राणी है। पंचेन्द्रिय सेनी प्राणधारियों में यह इसलिए अगाड़ी है कि इसमें जागतिक और आध्यात्मिक विकास करने की अमोघ शक्ति और सामर्थ्य विद्यमान है।

मनुष्य जन्म से खाता और खोजता है। लोक में समस्त जीवधारी खाते हैं, खोजते नहीं है। मनुष्य की खाने में खोज और खोजने में दृष्टि तेज है। उसे नश्वर और अविनश्वर, शव और शिव, शुभ और अशुभ, अर्थ और अनर्थ सभी तत्त्वों के एक साथ दर्शन होते हैं। धर्म मोह और क्षोभ से रहित सही और शुद्ध दृष्टि देता है। अविद्या से अनुप्राणित वह पदार्थ की परख और पहचान राग-द्वेष के वातायन से करता है।

समत्व और ममत्व के ब्याज से दृष्टि के दो रूप बनते हैं। समत्वदर्शी अर्थात् सुख और दुःख को समान रूप से देखना, बन जाता है सम्यक् दृष्टि। ममत्वमुखी बनता है मिथ्यादृष्टि अर्थात् सुख में सुखी और दुःख में होता है दुःखी। मिथ्यादृष्टि अशुभ और सम्यक् दृष्टि सर्वदा शुभ होता है।

बाहर देखना मिथ्या दर्शन है जबकि भीतर देखना होता है—सम्यक्दर्शन। बाहर देखने से विश्व के दर्शन होते हैं, जबकि भीतर देखने से आत्मा के दर्शन होते हैं। आत्म-दर्शन शाश्वत है, विश्व-दर्शन है क्षणिक। आत्मदर्शन में कोई परिवर्तन नहीं होता है, जबकि विश्व-दर्शन क्षण-क्षण में बनता और बिगड़ता रहता है।

मिथ्यादर्शन का मूल आधार है—मोह। पदार्थ के प्रति भोग की भावना उदय होते ही मोह का जन्म होता है। पदार्थ पर पूरा अधिकार अथवा आधिपत्य स्थापित हो जाये, मिथ्यादृष्टि की सदा यही भावना और कामना रहती है। वह उसका कोई भी अंश किसी अन्य को देने के पक्ष में नहीं होता।

आज के समुदाय और समाज में प्राणी प्रायः इतना दुःखी, निराश और चिन्तित रहता है कि वह प्रत्येक पदार्थ को उसके अयथार्थ रूप को ही देखता है और अन्ततः

वह पतन और दुःख के गर्त में गिरता है। अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म मानने के भ्रम के कारण मनुष्य को विकास के बजाय विनाश को पाने के लिए विवश किया गया है। आज अविद्या के कारण आदमी अभाव में जी रहा है। धन और धान्य, सत्ता और सिंहासन पाने के लिए वह अनर्थ करने में कोई संकोच नहीं करता। न्याय-अन्याय, नीति-अनीति, पुण्य और पाप, स्वर्ग और नरक, सत्ता और शासन की मर्यादायें उसे अपकृत्य करने में रोक नहीं पाते। नैतिक मर्यादाओं को भूल कर लोग अधिकाधिक शोषण कर रहे हैं। उनके समक्ष प्रायः मुख्य लक्ष्य होता है–अपना मनोरथ पूर्ण करना। मानव की इसी वृत्ति और प्रवृत्ति ने उसे स्वार्थी और संकीर्ण बना दिया है। इससे परस्पर में द्वेष और द्वन्द्व के संस्कार परिपुष्ट होते हैं।

महल में रहने वाला अहंकार से आप्लावित है। कुटिया में रहने वाला हीन भावना से भरा है। महल कुटिया को हीन भावना से देखता है। समतावादी महल को देखता और कुटिया को भी, पर उसकी दृष्टि में न अहंभाव होता है, और न ही हीनभाव। वह जानता है कि महल और कुटिया दोनों ही विनाशशील हैं। योग में समता का प्रयोग होता है। समत्व से हमारे सोच में संतुलन पैदा होता है।

सम्यक् दृष्टि का नजरिया संकीर्ण नहीं होता। वह पदार्थ को नहीं, पदार्थ में निहित गुणों को देखता है। उसे गुणों के गोपन में विश्वास नहीं होता, अपितु वह उनके विस्तार का पक्षधर होता है। विचार कीजिए, सूर्य एक प्राकृत पदार्थ है। उसमें निहित अनंत पोषणकारी तत्त्वों, अपार ऊर्जा तथा व्याप्त विभा का वह दर्शन करता है। उसमें उपयोग मुखी दृष्टिकोण जाग्रत होता है और भोग-भावना गौण हो जाती है। वह सदा चाहता है कि पदार्थ-गुणों के उपयोग का विस्तार होना चाहिए।

समत्व अथवा समता की दृष्टि व्यापक होती है जबकि ममत्व की दृष्टि होती है संकीर्ण। पदार्थ के प्रति उत्पन्न मोह–आसक्ति के कारण वह उसे डिबिया में बंद रखना चाहता है, ताकि कोई अन्य उसे देखने भी न पाये, योग और उपयोग करना तो दूर। सम्यक् दृष्टि भोग करने की अपेक्षा उसके उपयोग-विस्तार पर बल देता है। उपयोग शुभ उपयोग का रूप धारण करे, इस प्रकार की उदात्तता समतावादी दृष्टि का अपना स्वभाव होता है। समतावादी सदा श्रमशील होता है। श्रम से स्वावलम्बन के संस्कार उद्दीप्त होते हैं। उसमें उपयोग पक्ष जग जाता है। स्वावलम्बी एतदर्थ सर्वोदयी होता है। उसके सर्वोदय में आत्मोदय स्वयमेव आलोकित हो उठता है। मिथ्या दृष्टि व्यक्ति के उदय का पक्षधर होता है। उसे सर्वोदय तो दूर वर्गोदय भी नहीं सुहाता। पदार्थ की सत्ता पर वह अपनी स्वायत्तता चाहता है। समत्व में मनुष्य की समस्त पूर्व धारणायें, पूर्व आग्रह, अहंकार, पक्षपात प्रायः शान्त और समाप्त हो जाते हैं। समता की भावना कहीं से क्रय नहीं की जाती। उसे मात्र पुस्तकीय पारायण से भी उपलब्ध नहीं किया जा सकता। आत्मानुशासन एकमात्र

समता-साम्राज्य के द्वार खोलता है। अविद्या से राग और द्वेष, कषाय और संक्लेष उत्पन्न होते हैं, जबकि आत्मिक जागरण से मनुष्य की ऐसी दशा हो जाती है कि उसे सुख में न अधिक उत्फुल्लता होती है और न दुःख में अत्यधिक आकुलता। सुख-दुःख में मध्यस्थ भाव रखकर वह सदा समता की श्वास-प्रश्वास लेता है।

अविद्या से आदमी अपनी बुद्धि-चतुराई से दूसरों को दुःखी और स्वयं को सुखी बनाता है, पर समतावादी सदा स्वयं को कष्ट देकर दूसरों की भलाई में आनन्दानुभूति करता है। इस संदर्भ में एक जीवंत घटना याद आती है :

एक साधारण से होटल में एक महानगर के चार युवक आए। नाश्ता किया और चले गए। होटल मालिक ने देखा कि वे युवक अपना ट्रांजिस्टर वहीं भूल गए हैं। वह उनकी खोज में सामने स्टेशन की ओर दौड़ा। वे युवक एक डिब्बे में बैठ चुके थे। गाड़ी छूटने में कुछ विलम्ब था। वे आपस में बातें कर रहे थे। देखो, आज हमने उस होटल-मालिक को कैसा चकमा दिया। बिल आधा ही चुकाया और आ गए। इतने में वह होटल मालिक बोला–आप मेरे होटल पर नाश्ता करने आए थे। वहाँ आप यह ट्रांजिस्टर भूल आए। इसे सम्भालें। युवक अवाक् रह गए। इस घटना ने उनके मन को भली प्रकार माँज दिया था।

□□

धर्म धाम का मुक्तद्वार

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय जिस प्राणी में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं, वह वस्तुतः पुरुष की संज्ञा से प्रायः अभिहित किया जाता है। अर्थ और काम पुरुषार्थ जन्म लेते ही प्रत्येक प्राणी सम्पादित करने लगता है। बहुत कम पुरुष ऐसे होते हैं जिनके द्वारा धर्म पुरुषार्थ हो पाता है। मोक्ष पुरुषार्थ के लिए आज के आम आदमी में कोई चाव-चसक नहीं है। वह जीना तो चाहता है, सुख भी चाहता है, पर मोक्ष के प्रति वह सर्वथा अनभिज्ञ है। वे भव्य पुरुष धन्य और अनन्य हैं जिनमें मोक्ष की अवधारणा विद्यमान है और उसके प्रति उनमें अभिरुचि है।

प्राण और पर्याय मिलकर प्राणी का रूप स्थिर होता है। संसार में अनन्तानन्त प्राणी हैं। वे आदि-अनादि काल से जन्म लेते हैं, जीते हैं, और विनाश अर्थात् मृत्यु को प्राप्त होते हैं। जन्म-मरण की प्रक्रिया में प्राणी को महान दुःखों को सहना होता है। जीने में उसे सुख और दुःख दोनों को भोगने के अवसर प्राप्त होते हैं। अपने-अपने कर्मानुसार वे बराबर फल भोगा करते हैं। इसीलिए जीना सब चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता।

संसार का प्रत्येक प्राणी कर्म करता है। संसार प्राणी की कर्मशाला है। मोह उस कर्मशाला को नाना आकर्षण और विकर्षण से अलंकृत करता है। इसी से प्रभावित होकर वह नित्य अच्छे-बुरे कर्म करके उनके फलों को भोगा करता है। अच्छे कर्मोदय प्रायः सुखद फल देते हैं और बुरे कर्मों से दुःख की अनुभूति होती है। सुख-दुःख की इस आँख-मिचौली में जीवन अपना नित्य मुँह खोलता है। इसी प्रक्रिया से संसार का नियमित संसरण होता रहता है।

अधिकांश प्राणी अपने जीवन-पोषण के लिए कर्म करते हैं। जो जीव भव्य हैं, उनमें अपने जीवन के अतिरिक्त दूसरे प्राणियों की भलाई के लिए भी कर्म करने के भाव उदित होते हैं। ऐसे कर्म सत्कर्म की कोटि में आते हैं। सत्कर्म मिलकर धर्म-धाम के द्वार खोला करते हैं। धर्म की सदा जय होती है।

इससे भी ऊपर उठकर कुछ ऐसे कर्म होते हैं, जो सत्कर्म के अतिरिक्त गृहीत अथवा अगृहीत कर्मों को काटने में मदद करते हैं। इससे प्राणी के बंधे कर्मों की निर्जरा होती है। निर्जरा में कर्मों का क्षय अथवा विनाश हो जाता है। कर्म से निष्कर्म की यात्रा मोक्ष-मार्ग को प्रशस्त करती है। शुभ और शुद्ध कर्मों की सदा जय होती है।

पेड़-पौधे, नद-नदी, पर्वतादि प्रायः अपने लिए कर्म करते हैं—पर उनमें दूसरों की भलाई करने की प्रवृत्ति भी प्रायः मुखर हो उठती है। पेड़-पौधे हैं, वे स्वयं जीवित रहना चाहते हैं। साथ-ही-साथ वे दूसरों की भलाई हेतु प्राणदायिनी ऑक्सीजन, शीतल और सुखद छाया सुगंधित फूल और मधुर फल जुटाते हैं। इतना होने पर भी दुष्ट और उद्दण्ड प्राणी उनके साथ प्रायः अभद्र व्यवहार करते हैं। उन्हें क्षत-विक्षत करते हैं। उन्हें निंदित करते हैं तथापि वे अपने स्वभाव से कभी विचलित नहीं होते। नदी है, सदा स्वयं बहती है और दूसरों की तृषा-तृप्ति के लिए सदैव सहर्ष जल जुटाती है। पर मनुष्य को क्या हो गया है? उसके सारे जल को जमा कर उसे जीवंत पंगु बना देता है और असमय में ही वह सूखकर मृत्यु को प्राप्त हो जाती है। इस अनाचार से लोक में प्रदूषण फैलता है। यह रही स्थावर जीवियों की करुण कर्म-कहानी।

तिर्यंच जीवियों के कर्म-कौतुक आज भी हमें संयम और सदाचार का संदेश देते हैं। पशु हैं, वे भूख लगने पर ही भोजन खोजते और खाते हैं। भोजन के उपरांत वे कुछ भी खाने को तैयार नहीं होते। अखाद्य को वे प्रायः नहीं खाते-पीते। उनके अंगों की सुंदरता मनुष्य के अंगों के प्रतिमान बनकर उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह करती है। इस दृष्टि से मछली है, मृग है और खंजन हैं, इन सभी की आँखें अपनी सुंदरता के लिए मनुष्य समुदाय में आदर्श का रूप धारण किये हैं। गाय, वृषभ, गज तथा सिंह अपने-अपने उदात्त लक्षणों के लिए विश्व विख्यात हैं। अश्व तो शक्ति के निकष—'हॉर्स पावर' का पर्याय ही बन गया है। अपने सत्कर्म के कारण ये सभी गुणवंत हैं, पर उनके प्रति मनुष्य समुदाय का व्यवहार अत्यंत क्रूर और कुटिल मुखी है। ऐसे उपयोगी और सुंदर जीवों का वधकर उनके शरीर का भक्षण करते आज का आदमी जरा भी संकोच नहीं करता। पशु-पक्षियों से श्रेष्ठ कहलाने वाला इंसान अपने धर्म-कर्म से कितना पतित हो गया है, कभी सोचा भी नहीं था। आठ-आठ मदों में मदांध इठलाता आज का नासमझ आदमी उन्मार्गी होकर अपने लिए विनाश के द्वार खोलता ही है, अन्य-अनन्य प्राणियों के जीवन को क्लान्त और अशांत बनाकर प्रसन्न होता है।

मनुष्य के विकास के लिए मद से मुक्त होना पहली शर्त है। प्रमाद और मूर्च्छा मुक्त होकर सतत श्रम-साधना उसे उन्मार्ग से हटाकर पुनः सन्मार्ग पर ला

सकती है। गांधीजी प्रायः कहा करते थे कि मनुष्य जन्म से नहीं, अपने कर्म से महान बनता है। सत्कर्म करके वह अपने विरल जीवन को पूर्ण और सफल बना सकता है।

विचार कीजिए, जो मनुष्य समता भाव से कर्म करता है, उसका काम प्रायः शुद्ध और शुभ होता है। समता का लोकार्थ है ज्ञान और विवेक। मनुष्य में देव और दानव दोनों मौजूद हैं। जो देव की प्रेरणा से कर्म करता है, उसका काम कभी गलत नहीं होता। उसकी सदा जीत होती है। लेकिन जो दानव से प्रेरित होकर कर्म करता है, उसका काम कभी सही नहीं होता। ऐसे प्राणियों का स्वयं विनाश होता है और वे प्रायः विनाश मार्ग को प्रशस्त करते हैं।

देवता कर्म नहीं करते, सुख भोगते हैं, पर उनका शीश धर्म-धाम पर सदा झुका करता है। हमें सत्कर्म करके अपनी देह को देवालय बनाना आज के जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

❑❑

सांच बराबर तप नहीं

आत्मिक और आध्यात्मिक भाषा में गुणों के समूह को द्रव्य कहा गया है। द्रव्य का लक्षण है—सत्। सत् सत्य का पूर्व रूप है। सत् की सत्ता है। आत्मा भी एक द्रव्य है। आत्मा सदा सत् स्वभावी है। जिस पदार्थ की जिस रूप में सत्ता है उसे वैसा ही जानना वस्तुतः सत्य ज्ञान है, मानना है सत् श्रद्धान और तदनुसार बोलना सत्वानी है।

आत्मा का स्वभाव वस्तुतः सत्य धर्म है। सामान्यतः हम सत्य वचन को ही सत्य धर्म मान लेते हैं। ऐसा मान लेना वस्तुतः सत्य नहीं है। वचन और वाणी पुद्गल पर्याय जन्य हैं, जबकि सत्य है आत्मा का स्वभाव। स्वभाव आत्मा में रहता है जबकि वाणी शरीर में समाई रहती है। वाणी को आत्म सत्य से अनुप्राणित तो किया जा सकता है, फिर भी वह आत्मा का सत्य नहीं हो सकता। वाणी का सत्य अभिव्यक्त होता है जबकि आत्मिक सत्य सर्वथा है अनुभूति का विषय।

पर्यायधारी प्रत्येक जीव संसारी होता है। संसारी जन्मतः कर्म करता है। खाना उसका प्रारंभिक कर्म है और कर्म से निष्कर्म होना है अंतिम। कर्म से निष्कर्म होने के लिए तप की भूमिका अति महत्त्वपूर्ण है। अंतिम कर्म का कर्त्ता बनने के लिए मनुष्य की पर्याय धारण करना आवश्यक है। मनुष्य पर्याय में ही तप और उत्तम तप की साधना संपन्न करने की शक्ति और सामर्थ्य संभव होती है। इसीलिए देवता भी मनुष्य गति पाने के लिए उत्सुक रहते हैं।

तप से तन की शुद्धि होती है। उससे मन भी विशुद्ध होता है। शरीर शुद्धि और चित्त-शुद्धि पूर्वक जब तप किया जाता है तब अन्तर प्रदेश से सम्पूर्ण कषायिक कल्मष भस्म हो जाते हैं। अंतरंग निर्मल होने पर आत्मिक स्वभाव मुखर हो उठते हैं। ऐसी स्थिति में साधक के समस्त क्रियाकलाप सत्य-सम्पृक्त होते हैं। सत्य सन्मार्गी साधक अन्ततः सिद्ध बन सकता है।

लोक जीवन में तप की नाना विधियाँ और विधान प्रचलित हैं। कहीं अनशन और उपवास करने में तप मानते हैं तो कहीं रस परित्याग कर तप पूरते हैं। कोई गंगा स्नान तथा तीर्थ यात्रा करके तप पूर्ण करते हैं तो अनेक पूजा-पाठ करने में तप को स्वीकारते हैं। हठ योगी एक टांग पर आठोयाम खड़े होकर तप पूर्ण करते हैं।

तप से तात्पर्य है तपना। इच्छाओं के निरोधने में तप का अर्थ और अभिप्राय मुखर होता है। मनुष्य का जीवन मुख्यतः दो खण्डों में विभक्त है–अंतरंग और बहिरंग। बहिरंग तप से मनुष्य का तन तपाया जाता है। फलस्वरूप शरीर सधता है और शुद्ध होता है। अंतरंग तप से अन्तस को विशुद्ध किया जाता है। मोह अन्तरंग को मैला करता है। इसी से क्रोध, मान माया और लोभ जैसी भयंकर कषायिक वृत्तियों का पोषण होता है। अन्तरंग के तप से ये सभी भयंकर वृत्तियाँ भस्म हो जाती हैं।

बाह्य पदार्थों में सुवर्ण वास्तव में एक मूल्यवान पदार्थ है। लौकिक व्यवहार में आने से वह भी अशुद्ध हो जाता है। उसे शुद्ध करने के लिए भी तपाना पड़ता है। कहते हैं द्वादशवानी तप कर सोना विशुद्ध हो जाता है। तब खरा सोना कुन्दन कहलाता है। श्रमण-साधना में जीवन शुद्धि के लिए द्वाद्वश तपों का विधान है। छः तप बाह्य शुद्धि करते हैं और छः तप आभ्यन्तर शुद्धि करने में कारगर भूमिका निर्वाह करते हैं। तन और मन की शुद्धि होने पर ही जीवन में सत्य धर्म का उदय होता है। सारे तप के आयोजन और अनुष्ठान अपूर्ण हैं यदि वे हमारे जीवन में सत्य का उजागरण नहीं करते।

आज श्रमशील जीवन का अभाव होता जा रहा है। श्रम का तेजस्वी रूप है तप। तपने और तपाने में शारीरिक और मानसिक कष्ट होता है। कष्टकारी योजना सामान्यतः कभी किसी को स्वीकार नहीं, सभी सुख और समृद्धि के पीछे हाथ धोकर पड़े हैं। मिथ्या मार्ग से सत्य के दर्शन करना स्वयं को धोखा देना है। आज का जीवन भ्रमजाल में फँसा है और श्रम तथा तप-साधना से वह विमुख होता जा रहा है। सत्य के अभाव में सच्चा सुख और समृद्धि भला कैसे संभव है? सच्ची सुख-समृद्धि पदार्थ की पकड़ में नहीं, अपितु उसके शुभ और शुद्ध उपयोग करने में निहित है। सत्य और उसका तप तभी सार्थ है, जब वह जीवन में चरितार्थ है।

एक बार रूस के महान दार्शनिक तुर्गनिव कहीं जा रहे थे। राह में एक वृद्ध भिखारी से भेंट हो गई। भिखारी भूखा-प्यासा और फटेहाल था, लेकिन आंखें उसकी एक अद्भुत चमक से भरी हुई थीं। तुर्गनिव के पास आकर बोला, "कुछ देंगे!" तुर्गनिव का अन्तस आर्जवी था। जो कुछ होता, वह तुरन्त दे देते। लेकिन

उस दिन उनकी जेब खाली थी। वे दुःखी हुए और सोच में पड़ गए, क्या करें? आखिर उसका हाथ थामते हुए तुर्गनिव बोले, "भाई मेरे! शर्मिन्दा हूँ। एक भी पैसा आज नहीं है मेरे पास। दूँ तो क्या दूँ?" वृद्ध भिखारी ने अनुभव के वातायन से झाँकते हुए कहा, "महाशय! आप दुःखी न हों! पैसा नहीं है तो न सही, लेकिन मुझे एक अनमोल वस्तु मिल गई।" तुर्गनिव आश्चर्य में पड़ गए और पूछा, "वह क्या?" वृद्ध भिखारी ने कहा, "हृदय की सच्ची सहानुभूति।" यह सुनकर दार्शनिक तुर्गनिव की सत्य भरी आँखें तरल हो आईं।

❑❑

भीतर का आतम : बाहर का आतम

जीव के विकास और विनाश की प्रयोगशाला है—संसार। संसार में अनन्त जीव नित्य जीते हैं। और नित्य मरते हैं। वे नित्य कर्म करते हैं। कर्मानुसार फल भोगते हैं। सुख में वे सुखी होते हैं और दुःख में होते हैं दुःखी। उनके सुख-दुःख का चक्रमण आदि है, अनादि है।

प्राण अपने कर्मानुसार पर्याय धारण करता है और पर्याय धारते ही वह संसारी बन जाता है। पर्याय के ब्याज से प्रत्येक प्राणी परस्पर में भिन्न और अनन्य बन जाता है। वह जो व्यवहार अपने साथ अनुकूल और आवश्यक समझता है, उसे अन्य के साथ आवश्यक नहीं मानता। अपनी अनुकूलता के लिए वह दूसरे का निस्संकोच अहित और अनर्थ कर देता है। इससे परस्पर में द्वेष और द्वन्द्व उत्पन्न होता है। यही द्वन्द्व और द्वेष सांसारिक जीवन को गति प्रदान करता है।

प्रत्येक जीव कर्मानुसार नरक, तिर्यंच, देव और मनुष्य पर्यायों को धारण करता है। उत्पाद्य, व्यय और ध्रौव्य लक्षण प्रत्येक पर्याय में पाए जाते हैं। पर्याय-परिवर्तन, सुख-दुःख, रुष्ट और तुष्ट आदि अवस्थाओं में उत्पाद्य लक्षण उजागर होता है। पर्याय धारण की भाँति उसके विसर्जन होने में व्यय लक्षण प्रकट होता है। इन सभी अवस्थाओं में नाना रूप पाकर भी उसके आत्मिक स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता, यही है उसका ध्रौव्य लक्षण।

आत्मा में चाहे जितनी पर्यायें उत्पन्न और नष्ट हों परन्तु आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। वह सदा शाश्वत रहता है। उसे कोई शत्रु काट नहीं सकता, आग उसे जला नहीं सकती, पानी उसे गला नहीं सकता और हवा उसे सुखा नहीं सकती। आत्मा अपने आप में मनुष्य, तिर्यंच आदि नहीं है। आतम का शुद्ध स्वरूप शरीरादि धारण करना नहीं है। शरीरादि धारण करना कर्मों के कारण होता है। जहाँ तक आत्मा कर्म सहित है, वहाँ तक यह अनेक शरीर धारण करता है। एक शरीर छोड़ कर नया धारण करना ही वस्तुतः जागतिक मृत्यु है। शरीर पर्याय चाहे कितनी

बार बदले पर आत्मा वही की वही रहती है। उसका नाश-विनाश कभी नहीं होता। इस प्रकार जन्म-मरण के द्वारा केवल शरीर बदलता है, आत्मा नहीं बदलती।

'भीतर का आतम' अपनी स्वयं की आत्मसत्ता है, किन्तु 'बाहर का आतम' है नाना पर्यायधारी आत्म-सत्ताओं का प्रतिनिधि। भिन्न-भिन्न पर्यायधारी प्राणियों की 'सत्त्वेषु-सत्ता' समान होते हुए भी एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न भासती है। यह भिन्नता पर्यायजन्य है, आत्मजन्य नहीं। माया और मिथ्यात्व से प्रभावित होकर 'भीतर का आतम : बाहर का आतम' विषयक रहस्य सामान्यतः हम नहीं समझ पाते, फलस्वरूप अपने को अपना और दूसरे को दूसरा समझ बैठते हैं।

इस बाहरी अलगाव के कारण हमारे विचार और व्यवहार में राग-द्वेष का संचरण हो उठता है, और दया, करुणा, सौहार्द और सहानुभूति जैसी उदात्त भावनाएँ हमसे छूट गई हैं और हम स्वार्थ तथा संघर्ष में इतने मदान्ध हो जाते हैं कि निरीह प्राणियों की पिटाई और कटाई करने-कराने में हमें कोई संकोच नहीं होता।

ममत्व और मिथ्यात्व से अनुप्राणित आज हमारे अपने कुटुम्ब, परिवार-समुदाय और समाज में विग्रह की विनाशलीलाएँ सक्रिय हो उठी हैं। सर्प, मछली, शेर, हाथी तथा मृग आदि तिर्यंच जीवी एक-एक इन्द्रिय विषय-वासना के कारण अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं पर सभी प्राणियों में श्रेष्ठ कहलाने वाला मनुष्य अपनी शक्ति और सामर्थ्य को सम्पूर्ण इन्द्रियों की वासनावह्नि में झोंक रहा है।

इस बर्बादी से बचाव का एक ही उपाय है—अपने में सत्त्व और सम्यक्त्व का उजागरण। समत्व और सम्यक्त्व के जागरण से परस्पर में प्रेम और सौहार्द का वातावरण उत्पन्न होता है। दूसरों को सताने में स्वयं को सताने के भाव अन्तर्भूत हैं, इस रहस्य को तब वह आसानी से अनुभव कर सकता है।

विचार कीजिए, चोरी करने वाले की स्वयं भी चोरी होती जाती है, अज्ञानता में उसे इसका बोध नहीं होता। उसकी आत्मशक्ति—अचौर्यवृत्ति की चोरी होती रहती है। इस रहस्य को जैसे ही वह अनुभव करता है, उसकी चर्या से चोरी का व्यसन स्वयं छूट जाता है।

प्राणी मात्र के प्रति समभाव उत्पन्न होने से हमारी चर्या अहिंसा-प्रधान हो जाती है। जीवन में गुणों की गरिमा जाग्रत हो उठती है और इस प्रकार दुर्गुणों से पिंड छूट जाता है। समताभावी होकर महात्मा गांधी प्रायः कहा करते थे, हमें बुराई से घृणा करनी चाहिए, बुरे आदमी से नहीं।

चित्त-शुद्धि होने से शरीर-शुद्धि हो जाती है। भाव-शुद्धि होने से भाव-हिंसा समाप्त हो जाती है। जब भाव-हिंसा का उदय नहीं होता, तब द्रव्य-हिंसा उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में सारी वसुधा एक कुटुम्ब की नाईं प्रतीत होने लगती है। इस संदर्भ में एक जीवंत घटना का स्मरण हो आता है।

दीपावली का त्योहार है। एक दुकान पर खांड के खिलौने खरीदने के लिए जाना हुआ। भीड़ की कमी नहीं थी। खिलौनों के ढेर में से मैंने छाँटना शुरू कर दिया। खरीदारों में से एक ने मुझसे पूछा, "भाई यह भी कोई शाक-सब्जी है, जिसे छाँट रहे हो?" उनकी यह बात सुनकर दूसरे लोग हँसने लगे। किसी ने व्यंग्य वाणी में कहा, "भाई, किसी-किसी की छान-बीनकर खरीदने की आदत पड़ जाती है। भला खांड के खिलौनों में क्या छाँटना? सभी में खांड तो एक ही है।"

उनकी टीका-टिप्पणी सुनकर मुझसे नहीं रहा गया और अन्ततः मैंने तब सावधानी पूर्वक कहा था, "भाई, यह सच है कि सभी खिलौनों में खांड तो एक जैसी ही है, तथापि इनके बाहरी रूप-रंग में काफी अंतर है। हाथी-घोड़े, तोता-मैना के स्थान पर मैं कंगन, फूल और फलों की आकृति वाले खिलौने छाँट रहा हूँ। मेरा सोचना है कि इन्हें खाते समय पशु-पक्षियों के भक्षण करने के भाव पैदा न हो उठें और इस प्रकार हमारा भाव-हिंसा से बचाव हो सकता है।" मुझे याद है, उन्होंने मेरी साधारण-सी बात को गम्भीरता से लिया था और खरीदारों की भीड़ भी इस पर सोचने के लिए विवश हो उठी थी।

□□

विणओ मोक्खद्दारं

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–पुरुषार्थ के चार भेद किये गये हैं। जिस प्राणी में ये चारों पुरुषार्थ पाये अथवा जगाये जाते हैं, उसे पुरुष की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। पुरुष में सद्–असद्, अच्छाई-बुराई तथा मिथ्यात्त्व-सम्यकत्त्व को समझने की अपूर्व शक्ति और सामर्थ्य विद्यमान रहती है।

ज्ञान से पुरुषार्थ का पोषण होता है। विनय वस्तुतः ज्ञान का द्वार है। अविनयी कभी किसी से ज्ञानार्जन करने में समर्थ नहीं हो पाता। ज्ञानार्जन के लिए विनयी होना पहली शर्त है।

ज्ञान और विज्ञान के संचित कोश का नाम विद्या है। विद्या प्राप्त करने के स्थान को विद्यालय कहा जाता है। विद्या प्राप्त करने वाला जिज्ञासु विद्यार्थी कहलाता है और विद्या को देने वाला व्यक्ति वस्तुतः गुरु होता है। मनसा, वाचा, कर्मणा एकमेव श्रद्धापूर्वक जो गुरुचरणों में बैठकर विद्योपार्जन करता है, वह अन्ततः एक दिन विद्वान अवश्य बन जाता है।

विद्या का परिणाम है विनय। विनय से व्यक्ति अपने जागतिक और आध्यात्मिक सारे बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।। विनय वस्तुतः मोक्ष का द्वार है। इसीलिए विनय को आन्तरिक तप की संज्ञा से अभिहित किया गया है।

आचरण चरित्र का पर्याय होता है। ज्ञान को जब जीवन में चरितार्थ किया जाता है, तब चरित्र का जन्म होता है। ज्ञान और श्रद्धान जब चरितार्थ होता है तब मनुष्यता का जन्म होता है। मृदुता, शिष्टता और विनम्रता, गुणों की ये तीन तेजस्वी धाराएँ जीवन में मनुष्यता रूपी संगम का संचरण करती हैं। इसमें अवगाहन करने वाला विद्याधर सदा विनयशील होता है।

जिस व्यक्ति में विद्योपार्जन के संस्कार जाग्रत नहीं हो पाते, वह व्यक्ति वस्तुतः विद्या प्राप्त करने में सफल नहीं हो पाता। फिर चाहे वह अपनी चतुराई से परीक्षायें उत्तीर्ण कर ले और उपाधियों को प्राप्त कर ले, ऐसा व्यक्ति विद्यावान

नहीं हो सकता। विद्योपार्जन में गुरु की कृपा अत्यंत आवश्यक है। विनय व्यवहार से गुरु की कृपा को प्राप्त किया जा सकता है।

विनय की महिमा अनन्त है। विनय को चार भेदों में विभक्त किया जा सकता है–ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार। ज्ञान विनय निश्चय विनय है जबकि ज्ञानी की विनय है उपचार विनय। इसी प्रकार दर्शन निश्चय विनय है और सम्यक् दृष्टि की विनय उपचार विनय है। चारित्र की विनय है निश्चय विनय और चारित्रवंतों की विनय है उपचार विनय। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र की निश्चय विनय है जबकि इनके धारकों–देवों तथा गुरुजनों की विनय वस्तुतः उपचार विनय है।

विनय के अभाव में जिन्होंने विद्या को प्राप्त किया, उनके जीवन में अज्ञानतावश अभिमान तथा अहंकार का उदय होना आवश्यक है। 'अधजल गगरी छलकत जाय' लोकजीवन में प्रचलित उक्ति है। इस लोकोक्ति के अनुसार अपूर्ण और अल्प विद्यावान बखान अधिक करता है, व्यवहार कम। उसकी चर्या में मान और मायाचारी की प्रधानता रहती है। इसीलिए उसकी विनय में प्रदर्शन होता है, जबकि गुणों के प्रति अनुराग रखने वाले व्यक्ति में विनय व्यवहार चरितार्थ होता है। एक में विनय के फोटो खींचे जाते हैं तो दूसरे में विनय के फोटो अन्तरंग में स्वयमेव खिंच जाते हैं।

कहा भी है–'धम्मस्स विणओ मूल' अर्थात् विनय धर्म का मूल है। विनीत का हृदय कोमल होता है, उसकी वाणी कोमल होती है, और उसके चर्या–चरण कोमल हो उठते हैं। अनुशासन, आत्मसंयम और नम्रता विनय भावना के मूलाधार होते हैं। जिसके मन में अनुशासन होता है, वही व्यक्ति गुरु का कृपा-पात्र बनकर विद्योपार्जन कर सकता है। विनय सम्पूर्ण जीवन और आचरण का अलंकार होता है। जिस प्राणी में विनय का अभाव है वह धर्म की आराधना नहीं कर सकता। नम्रता के अभाव में तप और संयम की आराधना नहीं की जा सकती। तप और संयम साधना के बिना जागतिक और आध्यात्मिक बंधन-बाधाओं से मुक्त होना प्रायः असम्भव है।

जिसने विधिवत् विद्या ग्रहण नहीं की है, उसमें स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति का प्राधान्य पाया जाता है। ऐसे प्राणी में गजब की ठसक आ जाती है। उसकी चर्या आठ-आठ मदों की मादकता में मदान्ध हो जाती है। जाति, कुल, धन, बल, प्रतिष्ठा, तप तथा रूप और ज्ञान के मद से उसे यथार्थ की चौखट पर चढ़ना तो दूर, द्वार पर दस्तक देना भी सम्भव नहीं हो पाता। महान दार्शनिक रस्किन ने ठीक ही कहा था कि अभिमान से आदमी फूल तो सकता है, पर वह फैल नहीं सकता। विनयी का विकास सुनिश्चित होता है। ऐसे व्यक्ति गुरु तथा वृद्धजनों के समक्ष आने पर खड़े हो जाते हैं, हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं और उन्हें उच्च आसन देकर भक्ति

और सेवा करते हैं।

आज मानवीय समुदाय और समाज में भारी परिवर्तन आया है। युवक और युवतियों ने बड़ी-बड़ी उपाधियाँ तो अर्जित कर ली हैं और वे विदुषी और विद्वान भी बन गए हैं, पर उनमें शिष्टाचार, विनयप्रियता और गुणीजनों के प्रति सम्मान करने के शुभ संस्कारों का सर्वत्र अभाव परिलक्षित हैं। ऐसे व्यक्तियों में अपने लिए किये गए सहयोग और सहायता के लिए कृतज्ञ होने के स्थान पर कृतघ्न होने का दम्भ अवश्य उदय हुआ है। आज बुराइयों का इतना भयंकर सैलाब आया है, जिसमें चिरसंचित मर्यादा, गुणवत्ता और शालीनता बह गई है। और शेष रह गई है जबर्दस्त घुटन, टूटन और उत्पीड़न। उससे चारों ओर गलघोंटू प्रदूषण उत्पन्न हो गया है।

विद्योपार्जन के कठिन मार्ग पर चलने की अपेक्षा आज का आदमी उससे मिलने वाले लाभ का प्रत्याशी अवश्य बनता जा रहा है। ऊँचे-से-ऊँचे पदों पर पहुँचने की होड़ तो लगी है, पर अपने को तद्नुरूप बनाने का सत्प्रयास नहीं। दीर्घ जीवन जीने की उत्कट अभिलाषा तो है, पर सम्मान पूर्वक सुखी और संतुष्ट जीवन का एक क्षण जीना पसंद नहीं।

कदाचित यह संभव है कि अग्नि न जलाये, सम्भव है कि कुपित विषधर न डसे और यह भी सम्भव है कि हलाहल विष भी मृत्यु का कारण न बने, किन्तु गुरु की अवहेलना करने वाले साधक के लिए मोक्ष सम्भव नहीं है। विनयवंत विद्यार्थी अपने गुरु की सेवा-सुश्रूषा तथा उनकी आज्ञा का पालन करता है, उसकी शिक्षा उसी प्रकार बढ़ती है, जैसे जल से सींचा हुआ वृक्ष।

विनय से व्यक्ति चिरंजीवी रहता है। इस संदर्भ में एक जीवंत वृत्त का स्मरण हो आया है। रुग्णशैया पर पड़े हुए चीन के संत चांग चुआङ् से लाओत्से ने पूछा-"महात्मन! क्या आपको अपने शिष्यों के लिए कोई सन्देश देना है।"

उन्होंने मुँह खोलते हुए पूछा, "मेरे मुँह में दाँत हैं?"

"नहीं तो।"

"और जीभ?"

"वह तो है।"

"ऐसा क्यों है? कारण बता सकते हो?" चांग ने पूछा।

"मेरा विचार है कि नरम होने से जीभ टिकी रही है और कड़े होने से दाँत नष्ट हो गये हैं।" लाओत्से ने कारण बताया।

चाङ ने कहा, "हाँ, ठीक कहते हो। जगत इसी विनय के सिद्धांत पर टिका है। बस, अब मुझे और कुछ नहीं कहना है।" ❑❑

मौन : मूल्य और मूल्यांकन

प्राणी के सुख-दुःख भोगने की प्रयोगशाला है—संसार। अपनी इन्द्रियों के द्वारा वह संसार को परखता है। संसार विराट है। उसमें जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, आकाश और काल जैसे षट् द्रव्यों का चिरन्तन समावेश रहता है।

स्वार्थ की समझ से प्रत्येक प्राणी का अपना सीमित संसार होता है। मोह और ममता के कारण कदाचित उसे अनुभव नहीं हो पाता कि उसके सीमित संसार के परे भी एक विराट संसार है। तप और संयम साधना से व्यक्ति में समत्व को जगाया जाता है, फलस्वरूप मनुष्य से ममत्व मिटता है। समत्व से जब सम्यक्त्व का जन्म होता है, तब उसकी दृष्टि में परिवर्तन होता है। मिथ्या दृष्टि सम्यक् दृष्टि हो जाती है। सम्यक् दृष्टि प्राणी समग्र संसार को देखने की शक्ति और सामर्थ्य रखता है।

अपनी मिथ्या मान्यता और अज्ञानता के कारण प्रत्येक संसारी-प्राणी अनादि काल से सुख-दुःख भोगता आ रहा है। मनुष्य पर्याय में पहुँचकर उसे भव-भ्रमण से मुक्त्यर्थ कुछ करने-कराने का शुभ अवसर प्राप्त होता है। ऐसे विरल अवसरों को बिसारने में मनुष्य के मनोरथ मुख्य व्यवधान होते हैं। तप और संयम साधना से मनोरथों की निरोधना होती है। तप-संयम साधना हेतु शक्ति संचयन करने की आवश्यकता असंदिग्ध है।

मनुष्य की इन्द्रियाँ जब अपने बाह्य व्यापारों में सक्रिय होती हैं, तब उसकी शक्ति का ह्रास होता है। साधक इस ह्रास को रोकता है। स्वयं को तपाता है और वह अन्ततः सिद्धि को प्राप्त करता है। शरीर, वाणी और मन मनुष्य के तीन मुख्य अंग हैं जिनके सक्रिय होने पर उसकी ऊर्जा का उद्दाम वेग बहिर्मुखी होता है। सुधी साधक इन अंगों के संचालन पर रोक लगाता है। देखना, सूंघना, सुनना, खाना-पीना तथा स्पर्श करना-कराना जैसी प्राथमिक क्रियाओं पर संयम रखता है। इससे शरीर सधता है और शक्ति-संचयन होता है। इस क्रम में वह वाणी-विनिमय

पर भी रोक लगाता है। जब वह बाहर देखता ही नहीं तब उसके बाहरी भोग और उपभोग प्रायः स्तब्ध हो जाते हैं। ऐसी दशा में अभिव्यक्ति का आग्रह निस्तेज हो जाता है। मनुष्य जो बाहर देखता-सुनता तथा सीखता है उसकी अभिव्यक्ति करना आवश्यक समझता है।

मन वस्तुतः इन्द्रिय-संचालन में अहम् भूमिका का निर्वाह करता है। यदि मन मुखर है तो इन्द्रियाँ कभी शांत नहीं रह पातीं। और जब मन मौन हो जाता है तब सारी इन्द्रियाँ शिथिल और शांत हो जाती हैं। इस प्रकार मौन साधना शरीर, वाणी और मन को स्तब्ध करने के लिए प्रमुख प्रयोग है।

स्वयं जो होता है वह है वस्तुतः भावना। भावना के अनुसार इच्छा का उदय होता है। मन से श्रम प्रयत्न को जन्म देता है और तब कर्मक्रिया का व्यापार सक्रिय हो जाता है। विचार कीजिए शरीर के साथ किया गया श्रम मजूरी अथवा मजदूरी को जन्म देता है। वही श्रम जब मस्तिष्क के साथ किया जाता है तब परिणाम होता है—कारीगरी। श्रम जब हृदय के साथ किया जाता है तब कला का प्रवर्तन होता है। शरीर, वाणी और मन का प्रयोग जब कलात्मक रूप में किया जाता है तब उसकी शक्ति का ह्रास नहीं होता। कलात्मक कर्म-व्यापार वस्तुतः एक स्वयंजात प्रवाह है। प्रवाह में किसी प्रकार की शक्ति विशेष की जरूरत नहीं पड़ती है, वह सब कुछ स्वतः होता है।

भीतर शुभ होता है जबकि बाहर निरा अशुभ। वह अशुभ भंगुर होता है और उसके करने में मनुष्य की शक्ति का ह्रास होता है। शुभ अपने आप होता है। इसी सिद्धांत के आधार पर महात्मा गांधी तीन बंदरों के ब्याज से एक सारगर्भित तथ्य अभिव्यक्त करते हैं। उनके तीन बन्दर क्रमशः आँखों पर हाथ रखकर उन्हें बंद कर लेते हैं और निदेश देते हैं—बुरा मत देखो, कान बंद कर लेते हैं और निदेश देते हैं बुरा मत सुनो और मुँह पर हाथ रखकर निदेश देते हैं बुरा मत बोलो। बुराई करने पर मनुष्य को सायास करना होता है जबकि सच्चाई के लिए कुछ करना नहीं पड़ता, वह स्वयं होती है। बुराई कर्म का परिणाम है जबकि सच्चाई अनुभूति का विषय है। गांधीजी के इस प्रयोग में मौन साधना की अनुगूंज आज भी चिरंजीवी है।

मौन मनुष्य की शक्ति संचय का महत्त्वपूर्ण महाव्रत है। मौन रखने पर जब जो कुछ बोला जाता है, उसमें अपेक्षाकृत अधिक सत्य होता है। वाचाल सदा मृषावादी होता है। गांधीजी प्रायः कहा करते थे कि—'जहाँ बोलने के बारे में शंका हो वहाँ मौन रहें।' अधिक और अनर्थ बोलने से संघर्ष की संभावना बढ़ जाती है, ऐसी दशा में लोक में एक प्रचलित कहावत है—'एक चुप सौ को हरावे।' मौन से अनेक समस्याओं का समाधान प्राप्त हो जाता है। इस संबंध में एक जीवंत घटना का

स्मरण हुआ है।

जयपुर में अखिल विश्व जैन मिशन का अधिवेशन हो रहा था। मुख्य अतिथि थे माननीय हरिभाऊ उपाध्याय। विशाल जनसमूह था। शताधिक स्वयंसेवक व्यवस्था में संलग्न थे। अनेक मनीषियों के व्याख्यान हुए थे। जब मुझ अकिंचन को बोलने का आदेश मिला,. तब जनसमूह में कोलाहल ऊँचाइयों पर था। ऐसे में एक साधारण वक्ता श्रोताओं को शांत नहीं कर सकता था। मैंने तब 'मौन-व्याख्यान' का प्रयोग किया। निर्वाक माइक पर देर तलक खड़ा देखकर सारा कोलाहल सहसा शांत हो गया और तब मैंने कहा था—आपने बड़ी शांति से मुझे सुना, अनेकशः धन्यवाद। मुझे याद है इस पर हरिभाऊजी ने मेरी पीठ थपथपाई थी।

वैचारिक द्वन्द्व और द्वेष मौन से सहज में शांत हो जाता है। मौन से व्यक्ति में गजब की सहनशीलता जागती है जिससे क्रोध शांत हो जाता है। मान-मंथन में मौन प्रभावकारी भूमिका का निर्वाह करता है। इससे साधक को अंतर्यात्रा में सहयोग मिलता है। मौन से आत्मानुभूत की संभावना बढ़ती है। इससे जो चरण उठते हैं वे जन-जीवन में सदाचरण को जन्म देते हैं और अन्ततः मंगलाचरण का प्रवर्तन करते हैं।

मौन से प्राणी में प्रज्ञापटुता बढ़ती है, फलस्वरूप सूक्ष्म सत्य को पकड़ने की शक्ति उत्पन्न होती है। इससे कल्पना शक्ति का विकास होता है। फलस्वरूप संकल्प शक्ति और मनोबल का वर्द्धन होता है। इससे एकाग्रता का उदय होता है। ध्येय तक पहुँचने के लिए चित्त की एकाग्रता की आवश्यकता असंदिग्ध है। मन पारे की नाईं चंचल होता है। एकाग्रता से पारे को स्थिर किया गया है और मन को भी। मन शांत हो जाए तो अन्तरंग में शक्ति का स्रोत फूटता है। आन्तरिक शक्तियाँ अतीन्द्रिय आनन्द सुलभ कराती हैं। यह वस्तुतः अनुभूति का अन्दाज है, अभिव्यक्ति का नहीं।

अलीगढ़ में एक अचल ताल है। उसके चारों ओर धर्मायतन हैं। घण्टे बजते हैं, संकीर्तन होते हैं। उस शोरगुल में भी मौन की महिमा मुखर हो उठती है। सुबह-शाम वहाँ भक्तों की भीड़ एकत्र होती है। सैलानी समुदाय भी पहुँचता है। एक प्रातः वहाँ मेरा जाना हुआ। रेलिंग के सहारे खड़े होकर मैंने वहाँ देखा कि जल की परतों को चीरती हुई एक पीन-पुष्ट मछली ऊपर उछली और पुनः जलमग्न हो गई। पास में एक व्यक्ति ने उसे देखकर कहा—और कहता रहा—एक किलो की तो होगी, मजा आ जाएगा। उसके मुँह में पानी भर आया था। इसी मछली को एक भक्तिन ने आटे की गोलियाँ देकर आहार-दान का पुण्यार्जन किया था, बहुत देर तक हरेराम-हरे कृष्णा कहती रही। तीसरे मौन दर्शक ने उसे देखा और मन ही मन मुस्करा उठा। उसकी मन की आँखें मौन भाषा में कह रही थीं—मछली

की इस मनमोहक थिरकन पर हजारों हैलिन जैसी नर्तकियाँ न्यौछावर हैं, उसकी कलात्मक दृष्टि में गजब की सात्त्विकता थी।

मौन की महिमा अनंत है। इससे भाषा समिति के शुभसंस्कार उत्पन्न होते हैं। मुनि का लक्षण ही मौन है जिसके जीवन का लक्ष्य आत्म और अध्यात्म विकास करने में निहित है। परमात्मा बुद्धि और वाणी से परे है। विचार कीजिए जो कुछ मेरे द्वारा बाह्य जगत में देखा जा रहा है, वह तो जड़ है, कुछ जानता ही नहीं। मैं स्वयं ज्ञायक हूँ जिसे किसी के द्वारा देखा नहीं जा सकता, तब ऐसी स्थिति में भला किसके साथ बोला जाए? इस रहस्य को जानने के लिए मौन व्रत रखने के अतिरिक्त अन्य अनन्य उपाय नहीं है। मौन मन और मान को निस्तेज करता है जिससे मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।

❑❑

धर्म रक्षा : आत्म रक्षा

धर्म एक तेजस्वी तत्त्व है। धर्म वह तत्त्व है, जो आत्मा को शाश्वत सुखों की राह बतलाता है। लोक-जीवन में शांति, समता और परलोक में सुख और शक्ति जिस कर्म से प्राप्त होती है, उसे वस्तुतः धर्म कहा गया है। धर्म आत्मा की शुभ परिणति है। अहिंसा, संयम, तप रूप धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है। जन्म-मरण की वेगवती धारा में बहते-बहते अनन्त प्राणियों के लिए धर्म, दीप प्रतिष्ठा, गति तथा उत्तम शरण है।

सिद्धांत और संस्कृति धर्म के दो मुख्य रूप हैं। सिद्धि और अन्त मिलकर सिद्धान्त शब्द को गठित करते हैं। सिद्ध अर्थात् प्रमाणित किया हुआ और अन्त अर्थात् धर्म का रूप धारण करता है। जो सद्विचार जीवन में सफलतापूर्वक चरितार्थ हो जाते हैं, वस्तुतः वे कालान्तर में सिद्धान्त बन जाते हैं। इस प्रकार धर्म का सिद्धान्त-पक्ष सर्वथा ज्ञान और विज्ञान सम्पृक्त होता है। संस्कारपूर्वक कर्म-कृति संस्कृति को जन्म देती है। चारित्र-चर्या अर्थात् आचार-व्यवहार-संस्कृति का पोषण करते हैं।

आचार-व्यवहार के भी दो रूप होते हैं—यथा :

1. अगार 2. अनगार।

अगार-धर्म व्रत-विधानपूर्वक धारण किया जाता है। इस प्रकार धर्म के धारक को गृहस्थ अथवा श्रावक कहते हैं। अनगार धर्मी कहलाता है—संत-संन्यासी तथा श्रमण। इसमें अन्तर और बाह्य जीवन को तपाया जाता है। तपस्वी सर्वथा धार्मिक होता है।

व्यवहार धर्म की प्राथमिक प्रयोगशाला गृहस्थचर्या है। इस प्रयोगशाला का प्रयोक्ता सधकर गृहस्थ-चर्या का पालन करता है। वहाँ पर आत्मा की विशुद्धि होती है। संतचर्या धर्म की प्रयोगशाला है वस्तुतः वह प्रज्ञा-प्रतिष्ठान है। यहाँ धर्म का उत्कृष्ट रूप जीवन में चरितार्थ होता है।

संसार की जितनी धार्मिक मान्यताएँ हैं, उन सबका मूल आधार है—आत्मा और परमात्मा। इससे दो मुख्य मान्यताएँ फूटती हैं—आत्मवादी और परमात्मवादी। परमात्मवादी परम्परा की अवधारणा ईश्वर नामक सत्ता-शक्ति में निहित है जो सृष्टि की कर्त्ता, हर्त्ता और भर्त्ता मानी जाती है। वह वस्तुतः जागतिक जंजालतंत्र की संचालक प्रमुख है। शुभ-अशुभ कर्म उसी के निर्देशन में प्राणी सम्पन्न करता है। ऐसी दशा में जीव की अपनी कोई स्वयं जीवी सत्ता अथवा स्वतंत्रता नहीं है। जो कुछ है, वह ईश्वर है। ईश्वर ही सब कुछ है।

दूसरी अवधारणा है—आत्मवादी। इस मान्यता का प्रयोग और पोषण करते हैं—भदन्त, अरिहंत—तीर्थंकर। इस आत्मवादी अवधारणा के अनुसार ईश्वर के सिंहासन पर आत्मा को प्रतिष्ठित किया जाता है। सृष्टि और संसार की गतिविधि में आत्मा को ही सर्वशक्ति सम्पन्न कर्त्ता, भोक्ता माना जाता है। आत्मा का परम विकसित शुद्ध और निर्मल रूप ही परमात्मा है। परमात्मा वस्तुतः द्वन्द्व-द्वेष मुक्त, कर्मरहित आत्मा की प्रकृष्ट परिणति है। संक्षेप में, इसी बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि कर्मसंयुक्त जीव आत्मा है, जबकि कर्म मुक्त जीव है—परमात्मा।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ कहे गये हैं। पुरुष-जीवन की सार्थकता इन सभी पुरुषार्थों को पूर्ण करने में निहित है। धर्म से अनुप्राणित अर्थ और कार्य की एषणायें जैसे-जैसे शान्त और शमन होती जाती हैं, मोक्ष-पुरुषार्थ का मार्ग सुगम होता जाता है।

जीव, जीवन और जगत है तब उसे जीने के लिए जिस तत्त्व की अपेक्षा होती है, वह है धर्म। धर्म द्वारा जीवन जीने की कला का प्रवर्तन होता है। कैसे खायें-पियें, कैसे वाणी का प्रयोग करें, सुनें-सुनायें, कैसे गमन करें, किसी पदार्थ को कैसे उठायें अथवा रक्खें, मल-मूत्र का किस प्रकार विसर्जन करें-करायें, ये सब क्रियायें मनुष्य भव मे कलात्मक ढंग से सम्पन्न होनी चाहिए और इसके लिए धर्म का उपयोग करना उत्तम उपाय है।

संसार में अनंत पदार्थ हैं। प्रत्येक पदार्थ में उसके स्वभाव अर्थात् धर्म अनंत होते हैं। धर्म अथवा स्वभाव को जाने बगैर आज का आदमी पदार्थ का प्रयोग तो करता है, उपयोग नहीं, फलस्वरूप उसका परिणाम शुभ और सुखद नहीं होता।

वनस्पति का अपना वैभव है। फूल हैं, फल हैं, अनेक उपयोग धर्मी नदियाँ हैं, झरने हैं। पशु हैं, पक्षी हैं। मनुष्य के अंगों की शोभा और शक्ति के लिए प्रकृति के इन्हीं पदार्थों को प्रतिमान अंगीकार किया गया है। आज आदमी धर्म के अभाव में पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों का वध और विनाश करने में कोई संकोच नहीं कर रहा है। यह प्रकृतितः सत्य है कि जो प्राणी धर्म का तिरस्कार करता है; स्व और पर-पदार्थ

के स्वभाव के प्रतिकूल व्यवहार करता है, धर्म के अभाव में उसका ही सर्वनाश हो जाता है। अतः प्रत्येक प्राणी को अपने स्वभाव के अनुसार अपनी चर्या का सम्पादन करना चाहिए। इस संदर्भ में एक जीवंत घटना का स्मरण होना हुआ है।

एक संत नदी के प्रवाह को देख रहे थे। अचानक उनकी दृष्टि एक डूबते हुए वृश्चिक पर पड़ी और उसे बचाने के लिए वे तुरंत उद्यत हुए। उन्होंने ज्यों ही उसे पानी से बाहर निकाला, वृश्चिक ने अपने स्वभाव के अनुसार उन्हें दंशित कर दिया। थोड़ी देर बाद वही वृश्चिक पुनः पानी में डूबने लगा। संत ने पुनः उसे बचाया। इस बार भी वृश्चिक ने अपना स्वभाव नहीं छोड़ा। यह सब सुदूर बैठा एक व्यक्ति देख रहा था। वह संत के पास आया और कहा, "महात्मन! मैं आपको ज्ञानी पुरुष समझता था, पर आपको तो सामान्य ज्ञान भी नहीं है। आप वृश्चिक को बचाने में लगे हैं, जबकि वह आपको बराबर दंशित कर रहा है।"

सन्त ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया, "भले प्राणी! जरा विचार कीजिये, जब यह कीट अपने स्वभाव को नहीं छोड़ रहा है, फिर भला मैं मनुष्य होकर अपने स्वभाव को कैसे छोड़ दूँ?"

वास्तव में आज मनुष्य अपने स्वभाव को छोड़ चुका है और वह अस्वाभाविक जीवन जीने में अपने को धन्य और अनन्य समझने लगा है। फलस्वरूप उसका जीवन विविध विषमताओं और विद्रूपताओं से घिर गया है। धर्म के विनशने पर अंततः जीवन ही विनाश को प्राप्त हो जाता है। आप धर्म की रक्षा कीजिए, धर्म आपकी रक्षा करेगा।

□□

श्रद्धा से ज्ञानार्जन की उपयोगिता

पर्यायधारी प्राणी सदा संसारी होता है। प्रत्येक प्राणी में ज्ञान के लक्षण आरम्भ से ही विद्यमान रहते हैं। संसार के अन्य प्राणधारियों की अपेक्षा मनुष्य की श्रेष्ठता इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें ज्ञान और श्रद्धान अपने सम्यक् रूप में जाग्रत हो सकते हैं। ज्ञान और श्रद्धान के बलबूते पर वह पुरुषार्थ चतुष्ट्य को सम्पन्न कर सकता है।

संसार का प्रत्येक पदार्थ अनन्तधर्मी है। उसमें व्याप्त धर्म-गुणों को जानने के लिए दर्शन/श्रद्धान की आवश्यकता होती है। दर्शन दृष्टि देता है। शुभ और अशुभ की अपेक्षा से दृष्टि को दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है। तभी तो कहा जाता है कि जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि।

गुणों के प्रति पूज्य भाव, आस्था-विश्वास श्रद्धा को जन्म देता है। ज्ञानार्जन के लिए प्रत्येक जिज्ञासु को श्रद्धा के दरबाजे पर दस्तक देनी होती है। जिस कोटि अथवा स्तर की श्रद्धा होती है, जिज्ञासु को ज्ञान भी तद्नुसार ही प्राप्त हो पाता है।

अहंकार अथवा मद व्यक्ति के श्रद्धा भाव को प्रभावित किया करते हैं। ऐसी स्थिति में जातीय, प्रांतीय, पक्षपात तथा आग्रह आदि मैली मान्यताओं का प्रादुर्भाव होने लगता है। अहंकार से व्यक्ति का विकास रुक जाता है और हो जाता है विनाश का पथ प्रशस्त।

श्रद्धा का यत्किंचित अभाव मानव को उसके लक्ष्य से विचलित कर देता है। अस्थिर मन से किया गया कार्य अन्ततः अधूरा ही रह जाता है। कहते हैं मीरा महारानी ने इस रहस्य को भली-भाँति जाना और पहचाना था। इसलिए पूर्ण श्रद्धा के साथ उन्होंने स्वयं को भगवान कृष्ण की भक्ति में समर्पित कर दिया था। तमाम वैर-विरोधों के बावजूद सबकी हार हुई और वे जीती थीं।

गीता के अनुसार, 'श्रद्धावान लभते ज्ञानम्' अर्थात् श्रद्धायुक्त पुरुष ज्ञान प्राप्त

करता है। जिनके प्रति हमारा आकर्षण होता है, जिनके गुणों से हम प्रभावित होते हैं, उसी के प्रति श्रद्धाभाव उत्पन्न होता है। एकलव्य-द्रोणाचार्य के जीवन पर आधारित एक पुरानी प्रसिद्ध घटना है। धनुर्विद्या के धनी आचार्य द्रोण के प्रति एकलव्य की घनीभूत श्रद्धा थी। उसने द्रोण की माटी की मूर्ति बनाकर वन में वृक्ष के नीचे स्थापित कर ली, उससे प्रेरणा, प्रोत्साहन लेकर धनुर्विद्या को सीखा और अन्ततः एक दिन वह महान धनुर्धर बन गया।

श्रद्धालु में जब विनयशीलता उत्पन्न होती है, वास्तव में वह तभी गुणी से कुछ सीख पाता है। रामचरितमानस का एक प्रेरक प्रसंग उल्लिखित करना असंगत न होगा। महामनीषी रावण मरणासन्न थे, तब श्रीराम ने अपने छोटे भाई लक्ष्मण से कहा—"भाई! रावण के पास जाओ और उनसे रणनीति के कुछ विरल दाँव-पेंच सीखकर आओ।" बड़े भाई का प्रत्येक आदेश सदा शिरोधार्य मानकर लक्ष्मण तुरन्त रावण के पास गए, पर उनके मन में रावण के प्रति किंचित श्रद्धा भाव नहीं था। लक्ष्मण तत्काल गए और रावण के सिरहाने खड़े होकर ऊँचे स्वर में बोले—"रावण! अपने अंतकाल में मुझे रणनीति के कुछ दाँव-पेंच सिखला दो।" यह सुनकर मरणासन्न रावण मुस्कुराए और बाद में सरल और सधी शैली में बोले—"लक्ष्मण! तुम्हें अपने बड़े भाई से गुणग्राह्यता की सीख लेनी चाहिए। आश्चर्य है तुम्हें इतना भी नहीं मालूम कि जब किसी से कुछ सीखना होता है तो उसके सिर पर नहीं, सदा पैरों पर खड़ा हुआ जाता है और तब शिक्षार्जन/ज्ञानार्जन के लिए विनय की जाती है। श्रद्धा तज्जन्य विनय के अभाव में किसी से भला कोई क्या सीख पाता है। दशानन की यह बात आज भी प्रासंगिक है।

आज के जनजीवन में श्रद्धा की ज्योति प्रायः निस्तेज होती जा रही है। फलस्वरूप लौकिक और पारलौकिक ज्ञानार्जन में भारी कमी आई है। आज अयोग्य तथा अक्षम ऊँची कुर्सी पर बैठने के लिए प्रत्याशी तो हैं पर अपने में योग्यता-क्षमता पैदा करने को राजी नहीं हैं। इसका मूल कारण है उनमें गुणी और गुणों के प्रति श्रद्धा और विनय का सर्वथा अभाव। इस मैली मनोवृत्ति का परिणाम यह है कि आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में असफलता, ऊब और घुटन अनुभव हो उठी है। आज लोग किसी प्रकार ज्ञानार्जन तो कर रहे हैं पर श्रद्धा के अभाव में उसके उपयोग करने की क्षमता प्रायः नहीं आ पाती, परिणामतः हमारा जीवन ऊपरी तौर पर सम्पन्न और सशक्त दिखता है, किन्तु भीतर से निरा परावलम्बी होता जा रहा है। इस सम्बन्ध में एक वृत्त का स्मरण हुआ है।

एक सम्पन्न परिवार का शिक्षित युवक कार से अपनी नवविवाहिता पत्नी के साथ सैर करने जा रहा था। बीहड़ वन के बीचोंबीच उसकी नई कार खराब हो गई। वह उसकी खराबी ढूँढ़ता रहा, आखिर परेशान होकर कार में उदास बैठ

गया। अब क्या होगा? संयोग से एक मिस्त्री साइकिल से अपने गाँव जा रहा था। जंगल में रुकी कार को देखकर उसने पूछा—"क्या बात है?" "कार खराब हो गई है, भाई", युवक ने कहा। मिस्त्री ने कार को देखकर कहा—"सौ रुपए लूँगा।" युवक ने आतुर होकर कहा—"आप इसे ठीक कर दीजिये।" मिस्त्री ने कहा—"श्रीमान्, आप कार चालू कीजिये।" युवक ने जैसे ही कार चालू की,. मिस्त्री ने इंजन के किसी एक अंग पर हथौड़े की चोट मारी और कार चालू हो गई।

मिस्त्री बोला—"लाइए सौ रुपए।" युवक ने विस्मयपूर्वक कहा—"हथौड़े की एक चोट मारने के सौ रुपए अधिक हैं, यह तो मात्र दस रुपए का काम है।" मिस्त्री ने यह बात स्वीकार करते हुए कहा—"हथौड़ा मारने की कीमत दस रुपए ही है, पर 90 रुपए इस बात के हैं कि हथौड़ा किस जगह पर मारा जाए?" यह सुनकर युवक ने चुपचाप सौ रुपए मिस्त्री को दे दिये। यह है ज्ञान की गरिमा। इसके अभाव में कोई कितनी भी कोशिश कर ले, किन्तु समस्या का समाधान निकाल पाना सर्वथा असंभव है।

श्रद्धा का मूल्यांकन करते हुए महात्मा गांधी ने कहा था कि श्रद्धा से मानव पहाड़ों का उल्लंघन कर सकता है। श्रद्धा में निराशा का कोई स्थान नहीं है। श्रद्धा ही जिन्दगी का सूरज है। हमारी श्रद्धा अखंड बत्ती जैसी होनी चाहिए। वह हमें भी प्रकाश दे और आसपास भी प्रकाश करे। जिसमें शुद्ध श्रद्धा है, उसकी बुद्धि तेजस्वी रहती है। हमें श्रद्धापूर्वक ज्ञानार्जन कर अपने जीवन को सफल बनाना चाहिए।

❑❑

सुख का आधार

तृप्ति का परिणाम है सन्तोष। अतृप्त सदा असंतुष्ट रहता है। अघाया हुआ वस्तुतः तृप्त कहलाता है। जीवन और जगत में अतृप्त सदा दुःखी रहता है, जबकि तृप्त रहता है सदा सुखी।

सुख और दुःख जीवन-रथ के दो पहिये हैं। कर्म-चक्र के अनुसार प्राणी अपने जीवन में सुख-दुःख भोगा करता है। दुःख सब प्राणियों को अप्रिय और सुख सबको प्रिय होता है। दुःख को समझने के लिए हमें तृप्ति और तृष्णा को सावधानीपूर्वक समझना चाहिए। दुःख का मेरुदण्ड है—मोह! वास्तव में लोभ तृष्णा की जननी है। परिग्रह लोभ को जन्म देता है। इस प्रकार परिग्रह से लोभ, लोभ से तृष्णा, तृष्णा से मोह और मोह से मानवीय दुःख का जन्म होता है।

आत्मिक और आध्यात्मिक सुख अन्तर्मुखी होता है, जबकि ऐन्द्रिक विषय-व्यवहार होता है बाहरमुखी। पर-पदार्थ के भोग में इन्द्रिय व्यापार सदा सक्रिय रहते हैं। इन्हीं के परिणाम में प्राणी को सुख-दुःख की प्रतीति हुआ करती है।

इच्छाएँ अनन्त हैं। अनंत आकाश को मापना जैसे असम्भव है, उसी प्रकार इच्छाओं की पूर्ति के लिए भव-भवान्तर की आयु-अवधि कम पड़ती है। कोई कभी तीन लोक की सम्पदा प्राप्त कर ले तो भी उसकी इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो पाती। धर्म-शास्त्रों में कहा गया है **"लोभो सव्व विणासओ"** अर्थात् लोभ सभी का विनाश करता है।

प्राणी जब अपनी चेतना मन के ब्याज से इन्द्रियों के हवाले कर देता है तब इन्द्रिय-विषय-व्यवहार सक्रिय हो जाते हैं और परिणाम होता है—वासना। वासना कभी तृप्त नहीं होती,. और जब प्राणी मन के माध्यम से इन्द्रियों को चेतना के अनुसार सक्रिय होने की प्रेरणा देता है तब परिणाम हाथ आता है—उपासना। उपासना का परिणाम होता है—सन्तोष।

तृष्णा की अग्नि बाहरी विलास सम्पन्न साधनों से उद्दीप्त होती है, जबकि

तृप्ति का तेज आत्मिक और आध्यात्मिक अनुशीलन से उत्तीर्ण होता है। स्व और स्वार्थ अलग-अलग अर्थ और अभिप्राय रखते हैं। स्वमुखी सदा अन्तरमुखी होता है जबकि स्वार्थी बहिर्मुखी होता है।

बहिर्मुखी जीवन का मुख्य लक्ष्य होता है—धनार्जन करना। जहाँ अर्जन है, वहाँ विसर्जन भी होना चाहिए। विसर्जन के अभाव में अर्जन असन्तुलित हो जाता है। विसर्जन से लोभ निस्तेज होता है। लोभ के साथ तृष्णा और मोह भी विनष्ट होते हैं। फलस्वरूप प्राणी की चिन्ताएँ छूटती जाती हैं। निश्चिन्त होने से मन में शान्ति उत्पन्न होती है। विसर्जन करने से अर्जन का अभिवर्द्धन होता है, साथ ही धार्मिक क्रियाकलापों में मन लगने लगता है। धार्मिक चर्या सन्तोष और शान्ति उत्पन्न करती है, और इससे बड़ा दूसरा कोई सुख नहीं है।

इस संदर्भ में एक ऐतिहासिक घटनावृत्त का स्मरण हुआ है।

यूनानी सम्राट सिकन्दर के मन में विश्व-विजेता बनने की लालसा उत्पन्न हुई। अपनी कामना पूर्ण करने के लिए वह एक चमत्कारी योगी के आश्रम में पहुँचा। यथायोग्य सेवा-सुश्रूषा कर उसने योगी को प्रसन्न किया। योगी ने सिकन्दर के विश्व-विजयी होने के मनोरथ को पूरा करने का आश्वासन-आशीर्वाद दिया।

मनुष्य के मनोरथ की कोई सीमा होती है भला? सिकन्दर ने सोचा, यदि योगी ने मेरा यह मनोरथ पूर्ण किया तो बाद में उसके समक्ष दूसरे अन्य मनोरथों के प्रस्ताव रखूँगा। सिकंदर को आते देख योगी मुस्कराये। उन्होंने अपने योग के सहारे सिकन्दर की भावी योजना को परख लिया था।

योगी कुटिया में गया और एक मानवी खोपड़ी लाकर बोला, "तुम इस खोपड़ी को अनाज के दानों से भरकर मेरे पास ले आओ। यदि तुम खोपड़ी भरकर ले आये तो तुम्हारी इच्छा अवश्य पूर्ण होगी।

सिकन्दर उस खोपड़ी को राजमहल में ले गया और अनाज की बोरियाँ उसमें उड़ेलने लगा, पर वह खोपड़ी अन्ततः खाली ही रही। सिकन्दर निराश होकर योगी के पास लौट आया। योगी ने कहा, "सिकन्दर! तुम इतने बड़े साम्राज्य से भी सन्तुष्ट नहीं हो तो फिर पृथ्वी का साम्राज्य मिलने पर भी तुम इस खोपड़ी की तरह ही स्वयं को खाली अनुभव करोगे।" सिकन्दर योगी के रहस्य को जान चुका था। वह चुपचाप लौट गया।

बहिर्मुखी जीवन सदा कर्मचक्र की परिधि पर दौड़ लगाता है। दौड़ जैसे-जैसे तेज होती जाती है, आकुलता वैसे-वैसे बढ़ती जाती है। कर्मचक्र जब धर्मचक्र से अनुप्राणित होने लगता है तब प्राणी का परिधि पर अनुधावन धीमा हो जाता है और अन्ततोगत्वा वह थमकर दिशा परिवर्तन करने पर विचार करता है। बहिर्मुखी से वह अन्तर्मुखी होने लगता है।

धर्मचक्र से सदाचार का प्रवर्तन होता है। चरण जब सदाचरण में परिणत हो जाते हैं तब जीवन में आज नहीं तो कल, एक दिन अवश्य मंगलाचरण का प्रवर्तन होने लगता है। सदाचरण से मंगलाचरण की शुभयात्रा शुद्धमुखी होकर सिद्धचक्र का रूप धारण करती है। सिद्धचक्र का परिणाम होता है जीवन में तोष, परितोष और सन्तोष से सम्पृक्त होना। इस प्रकार सन्तोषी सदा सन्तुष्ट और सुखी रहता है।

❑❑

गांधी दर्शन : जीवन दर्शन

गांधी दर्शन के जन्मदाता श्री मोहनदास करमचंद गांधी का जन्म 2 अक्टूबर, 1869 को पोरबंदर में हुआ था। उनका पूरा जीवन सत्य और अहिंसा से अनुप्राणित था। आगे चलकर यही वस्तुतः गांधी दर्शन का मूलाधार सिद्ध हुआ। गांधी दर्शन बड़ी विस्तृत बात है। यहाँ उसके कतिपय अंश शब्दायित करना हमें अभीप्सित है।

गांधीजी जीवन-शुद्धि के लिए तीन महान सिद्धांतों को जीवन-चर्या में उतारने पर विशेष बल देते थे। उनके पास तीन बंदरों की एक प्रतिकृति थी। उसमें एक ने अपने हाथों से अपनी आँखें बंद कर रक्खी हैं, दूसरे ने अपने कान बंद कर रक्खे हैं और तीसरे ने अपना मुँह बंद कर रक्खा है। वे प्रायः कहा करते थे कि इन आकृतियों से हमें सीख ग्रहण करनी चाहिए। 'आँखों का बंद करना' पहली आकृति का अभिप्रेत है—दूसरों में कोई दोष नहीं देखना चाहिए। 'कान बंद करना' दूसरी आकृति का अर्थ है—दूसरों की बुराई नहीं सुननी चाहिए और 'मुँह बंद करना' तीसरी आकृति का अवबोध है—दूसरों की बुराई नहीं करनी चाहिए। उनका मानना था कि संसार में ऐसे आदमी का अन्वेषण करना प्रायः असंभव है, जिसमें कोई दोष न हो अर्थात् वह सर्वथा निर्दोष हो और ऐसे आदमी को खोजना भी संभव नहीं है, जिसमें कोई अच्छाई न हो। ऐसी स्थिति में हमें हंस के स्वभाव से सीख लेनी चाहिए। हंस जिस प्रकार दूध को ग्रहण करता है और पानी को छोड़ देता है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को दूसरों की अच्छाई लेकर बुराई छोड़ देनी चाहिए। गांधीजी का मानना था कि इस रत्नत्रय—तीन गुणों को जीवन में आत्मसात कर लेने पर मनुष्य में मानवता की महिमा मुखर हो उठती है, जिससे जीवन-दर्शन चिरंजीवी होता है।

गांधीजी सफलतापूर्वक जीवन जीने के लिए 'प्रार्थना' को चर्या का आवश्यक अंग मानते थे। 'प्रार्थना' की उपादेयता और शक्तिमत्ता पर उनका अटूट विश्वास था। जब कभी उनके सामने कोई कठिन समस्या आती थी, उस समय उन्हें ईश्वर

का ही सहारा होता था। उन्होंने सदैव अपनी अन्तरात्मा की आवाज पर ही काम किया और सफलता प्राप्त की। वेद, कुरान, गीता, अवेस्ता, बाइबिल आदि सभी धर्म मंत्रों का समवाय आपकी प्रार्थना के रूप को स्वरूप प्रदान करता था। वह वस्तुतः सर्वधर्म का जीता-जागता उदाहरण है। यथा—

रघुपति राघव राजा राम, पतित पावन सीताराम।
ईश्वर अल्लाह तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान ॥

उनकी इस प्रार्थना का स्वर सम्पूर्ण वातावरण में गूंज उठता था, जिसकी अनुगूंज आज भी उपादेय है। उनकी मान्यता थी कि हिंसा घृणा का घर है। जीवन में घृणा कभी घृणा से दूर नहीं होती, वह वस्तुतः अहिंसा अर्थात् प्रीतिपूर्ण व्यवहार से ही समाप्त हो सकती है। उन्होंने अपने जीवन में चरितार्थ कर उजागर किया था कि क्रोध को प्रीति से, बुराई को अच्छाई से, लालच को उदारता से तथा झूठ को सत्य से जीता जा सकता है। इस प्रकार की जीत सदा शाश्वत होती है।

अछूतों की दुरावस्था ने उनकी आँखें खोल दी थीं। उसे देखकर उनका हृदय पसीज उठता था। उनके सुधार और उद्धार का लक्ष्य उनके जीवन-उद्देश्य का एक अंग था। उन्होने अछूतों को 'हरिजन' के नाम से सम्बोधित कर उन्हें सम्मान के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया था। हरिजन बालक-बालिकाओं को अपने आश्रम में अपने बच्चों के समान रक्खा और सब प्रकार का भेदभाव दूर किया। वह मानते थे कि हम सब समान हैं और भगवान का द्वार सबके लिए समान रूप से खुला रहना चाहिए। अपने उद्गार व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा था, "मेरे जिम्मे यदि राजनैतिक उत्तरदायित्व नहीं आया होता तो मैं हरिजनों और पीड़ितों की ही निरंतर सेवा करता रहता। हम लोग हरिजनों की सेवा करते हैं अपने तथा पूर्वजों के किए पापों को धोने के लिए।" ऐसा कहकर उनका सामाजिक मूल्य और मूल्यांकन किया था। गांधीजी की धारणा थी कि देश में ऐसी शिक्षा होनी चाहिए, जिससे प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्त्व का पूरा-पूरा विकास हो सके। समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी योग्यता और शिक्षा के अनुसार अपनी जीविका की समस्या स्वयं हल करते हुए सामाजिक कर्त्तव्यों को पूरा कर सके जिससे समाज में न्याय-नीति की स्थापना हो। बुनियादी शिक्षा प्रणाली से ही भारत उत्तरोत्तर सुदृढ़ और समृद्ध हो सकता है।

सत्य और अहिंसा तो उनके जीवन-दर्शन के आधारभूत स्तम्भ थे। गांधी दर्शन स्वयमेव सत्य की अभिव्यक्ति है। उनकी मान्यता थी, सत्य नारायण की कथा सुनना मात्र इष्ट नहीं है। अपितु हमारे जीवन में सत्य को आत्मसात करना आवश्यक है। सत्य के साथ-साथ गांधी दर्शन के अनुसार जीव मात्र का धर्म है अहिंसा। अहिंसा को धर्म के रूप में चरितार्थ करना गांधी-दर्शन की नैतिकता और मौलिकता है।

सत्य का जीवंत प्रयोग कर गांधीजी ने 'सत्याग्रह' को जन्म दिया और इसी के बलबूते पर पूरे देश को महाशक्ति के चंगुल से मुक्त कराने में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। अहिंसा का प्रयोग करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि हमें बुरे आदमी से नहीं, अपितु उसमें व्याप्त बुराई से घृणा करनी चाहिए। दूसरे के दिल को दुखाना अपने सुख-चैन पर कुठाराघात है। चौरी-चौरा में तनिक हिंसा हो जाने पर उन्होंने अपने देशव्यापी सत्याग्रह को स्थगित कर दिया था।

गांधीजी प्रत्येक पदार्थ के उपयोग पर बल देते थे। संग्रह प्रवृत्ति में उनकी रुचि नहीं थी। वह एक हाथ से अर्जन और दूसरे हाथ से विसर्जन करने के सिद्धान्त का अनुमोदन करते थे। उनका आग्रह था कि हमें अपनी भूख मिटाने के लिए अपना पेट भरना चाहिए, पेटी नहीं। भूख से अधिक भोजन करना गांधीजी की दृष्टि में चोरी करना था।

विश्वविख्यात लेखिका एस. पर्लबक की नन्हीं बच्ची ने गांधीजी की हत्या का समाचार पाया तो हठात् उसके मुख से निकल पड़ा था—"माँ, कितना अच्छा होता यदि पिस्तौल की ईजाद नहीं होती।"

गांधी दर्शन ने उन्हें अमर कर दिया।

□□

जीवन के अधिष्ठान

भारतीय संस्कृति में सत्य और धर्म दो ऐसे प्रमुख तत्त्व हैं जिन पर आधारित जीवन का सार और सारांश निर्भर करता है। जीवन की सार्थकता भोग से विरत होकर योग-मुखी हो, उस ऊँचाई तक पहुँचना है, जहाँ से फिर कभी लौटना नहीं होता। आने-जाने की प्रक्रिया प्रायः समाप्त हो जाती है। जन्म और मरण का चक्रमण शान्त और शमन हो जाता है। इसी को धर्म-शास्त्र प्राणी की मुक्तावस्था कहते हैं।

सत्य का सामान्य अर्थ और अभिप्राय है—यथार्थ और यथातथ्य। प्रत्येक पदार्थ के यथातथ्य अस्तित्व का नाम सत्य है। उसे अनुभव के आधार पर देखा और परखा जा सकता है, पर उसकी अभिव्यक्ति करना प्रायः सम्भव नहीं होता। सत्य को जब व्यक्त और अभिव्यक्त किया जाता है तब वहाँ सत्य नहीं, सत्यांश ही प्रकट होता है। अभिव्यक्ति व्यवस्थाजन्य है जबकि सत्य है आस्था-प्रधान।

व्यवस्था व्यक्ति के राग और द्वेष से पोषित और पल्लवित होती है। व्यवस्था का अपना विधि-विधान होता है। उसमें सत्य तद्नुसार रूप धारण करता है। इस प्रकार जितने प्रकार की व्यवस्थायें होती हैं, सत्य भी उतने ही प्रकार के भिन्न-भिन्न होते हैं। स्वभाव-जन्य सत्य सदा एक ही होता है, उसे किसी भी व्यवस्था में जगाया अथवा पहुँचाया जाये, उसमें कोई अन्तर नहीं आता। सत्य का यह अखण्ड रूप सदा धर्म-संगत होता है। सत्य ही धर्म है।

धर्म को निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा से दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है। निश्चय के वातायन से परखें तो धर्म सदा वस्तु के स्वभाव में परिलक्षित होता है। धारण करने योग्य अच्छी बातों को जब जीवन में धारण किया जाता है तब वह व्यवहार-धर्म कहलाता है।

इस प्रकार व्यवस्था-जन्य सत्य और आचरण-जन्य धर्म जागतिक जीवन-विकास के लिए आवश्यक होता है। उसे सम्यक् रूप से पालने पर जीवन में सधने के

संस्कार उत्पन्न होते हैं। सत्य और धर्म से अनुप्राणित जीवन-साधना प्राणी को आत्मिक और आध्यात्मिक विकास तक पहुँचाती है।

इसी आधार पर गांधीजी व्यावहारिक सत्य और धर्म पर जोर देते हैं। वे सर्व प्रथम मानवीय समूह और समुदाय की कल्याण-कामना करते हैं। महावीर को इससे अगाड़ी पहुँचना था, अतः उन्हें आत्मिक और आध्यात्मिक विकास के लिए अखण्ड सत्य और धर्म की अपेक्षा रही। गाधीजी की मान्यता रही है कि जीवन विकास के सोपान पर क्रमशः चढ़ना सदा उपयोगी होता है। श्रावक-चर्या अर्थात् गृहस्थ चर्या यदि श्रावकाचार अर्थात सत्य और धर्म से अनुप्राणित नहीं हुई तो आगे की सीढ़ी पर आरोहण करने का इरादा कभी सफल नहीं हो सकता।

'गांधी-चिंतन' में उनका दृष्टिकोण स्पष्ट है, "जो सत्य को चाहता है, मन, वचन और कर्म से केवल सत्य का आचरण करता है वह ईश्वर को पहचानता है। वह त्रिकालदर्शी हो जाता है। इस देह में उसे मोक्ष की सिद्धि हो ज़ाती है। सत्य की भावना से ओत-प्रोत जीवन स्फटिक की भाँति पारदर्शी और शुद्ध होना चाहिए। ऐसे व्यक्ति की उपस्थिति में असत्य एक क्षण के लिए भी नहीं टिक सकता। कोई उस आदमी को धोखा नहीं दे सकता, जो हमेशा सत्याचरण करता है, कारण कि उसकी मौजूदगी में असत्य की कलई न खुले, यह हो नहीं सकता। सत्य में अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय तथा दूसरे व्रत शामिल हैं।"

सत्य और धर्म जब जीवन में आत्मसात हो जाते हैं तब जीवन चर्या प्रामाणिक हो जाती है। सत्य की सदा जीत होती है। वहाँ झूठ कभी टिक नहीं पाता और सत्य पथ पर चलने वाले को देवता भी नमन करते हैं। इसी आधार पर अंग्रेजों को भारतीय शासन और सिंहासन छोड़ने के लिए महात्मा गांधी ने 'सत्याग्रह' का सहारा लिया था और हम देखते हैं कि वे सत्य और धर्म के बलबूते पर अपने मनोरथ में शत-प्रतिशत सफल हुए थे।

सत्य-धर्म को समझने और समझाने के लिए हमें हमारी दृष्टि को व्यापक बनाना होगा। राग-द्वेष से अनुप्राणित संकुचित दृष्टि में विराट सत्य के कभी दर्शन नहीं हो पाते। इसीलिये सत्याभिव्यक्ति के लिए महावीर भगवान सात भंगों का प्रयोग करते हैं। इसी शैली और सिद्धान्त को उन्होंने अनेकान्त और स्याद्वाद कहा है।

इस संदर्भ में मुझे कहीं पढ़ी हुई एक घटना का स्मरण होना हुआ है।

बनारस के राजा के चार पुत्रों ने किंशुक का वृक्ष देखने की इच्छा सारथी से प्रकट की। सारथी ने कहा—"राजकुमारों! मैं आपको किंशुक का वृक्ष अवश्य दिखा दूँगा।"

एक दिन सारथी सबसे बड़े राजकुमार को वन में ले गये और वहाँ किंशुक

वृक्ष को दिखाया। वृक्ष नंगा खड़ा था, मात्र सूखा-सा तना और सूखी शाखा में पत्ता एक भी नहीं। कुछ समय बाद दूसरे राजकुमार का जाना हुआ, तब वृक्ष में हरी-हरी पत्तियाँ आ चुकी थीं। फिर तीसरा राजकुमार गया। उसने किंशुक वृक्ष में लाल-लाल पुष्प खिले हुए देखे। वृक्ष की शोभा अद्भुत थी।

अन्त में चौथे राजकुमार के देखने का क्रम आया, उसने देखा कि वृक्ष में फल लगे हुए हैं। चारों ने वृक्ष देखकर अपने-अपने विचार रखे। बड़े राजकुमार ने वृक्ष को सूखे ठूँठ के समान बताया। दूसरे ने कहा—नहीं, ऐसा नहीं है, वह तो हरे-भरे केले के पेड़ के समान होता है। तीसरे ने कहा—अरे भाई, किंशुक का वृक्ष तो सुन्दर लाल-लाल फूलों से आच्छन्न होता है। चौथा राजकुमार मिश्रित वाणी में बोला—नहीं भाई, वह तो फलों से लदा हुआ होता है। राजकुमारों ने अपनी यह समस्या राजा के सामने रखी। राजा को अपने बेटों की एकांगी दृष्टि पर बड़ी हँसी आई। वह समझाते हुए बोले—"बेटों! तुम चारों ठीक ही कहते हो। कोई भी वृक्ष प्रत्येक ऋतु में एक जैसा नहीं रहता। ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ वृक्ष के स्वरूप में भी परिवर्तन होता रहता है। इसलिये चाहे वृक्ष हो अथवा अन्य कोई वस्तु, देखने वाले को उसे समग्र दृष्टि से देखना चाहिये। एक ही दृष्टि से देखने पर किसी वस्तु का सत्यांश ही प्रकट होता है, पूर्ण सत्य नहीं। स्याद्वाद दृष्टि इस भ्रम को भंग करके हमें सत्य दृष्टि, सम्यक् दृष्टि प्रदान करती है!"

❑❑

अहिंसा और क्षमा

जीना जीवन का प्रधान लक्षण है। इसके लिए प्रत्येक प्राणी को संघर्ष करना पड़ता है। संघर्ष मात्र दूसरों से नहीं, अपितु स्वयं से, स्वयं की कमजोरियों से, स्वयं के मार्ग में आने वाली समस्त बाधाओं से। संघर्ष वस्तुतः जीवन का पर्याय है।

शुद्ध और सन्मार्ग पर चलने के लिए जो संघर्ष करना होता है, उसमें आरम्भ में भले ही असुविधा और कष्ट उठाना पड़े, पर उसका परिणाम सदा शुभ और सुखद होता है। इस प्रकार के चरण नित्य और निरन्तर उठते हैं और विकास को प्राप्त होते हैं, किन्तु इससे दूसरों को किसी प्रकार की असुविधा और कष्ट का अहसास नहीं हो पाता। हमारे चरण जब सदाचरण से हटते हैं, तभी दूसरों को कष्ट होता है। दूसरों को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाना हिंसा है। अहिंसा का सच्चा स्वरूप है किसी को लेशमात्र भी कष्ट या पीड़ा न पहुँचाना। **परस्परोपग्रहो जीवानाम्** अर्थात् परस्पर उपकार करते हुए जीवन जीना अहिंसक जीवन-चर्या का अपना स्वरूप और स्वभाव है।

अहिंसा आत्मा का स्वभाव है। इसके दो पक्ष हैं :

(1) निषेधात्मक

(2) सकारात्मक

निषेधात्मक अहिंसा का अर्थ और अभिप्राय है किसी भी जीव अथवा प्राणी की विराधना न करना। सकारात्मक अहिंसा में प्रत्येक प्राणी की आराधना करनी होती है अर्थात् प्राणि-मात्र के प्रति करुणा, दया, प्रेम, सहयोग, वात्सल्य तथा मैत्रीभाव रखना। अहिंसक जीवन के लिए समझ और सूझ से सम्पृक्त श्रम की आवश्यकता होती है। श्रम के अभाव में चर्या सदा हिंसामुखी हो जाती है। हिंसक सदा परावलम्बी होता है। इससे जीवन में गम्भीर समस्याओं का उदय होता है। सम्यक् श्रम और संघर्ष पुरुषार्थ का पोषण करते हैं। पुरुषार्थी की जीवन-चर्या स्वयं सुखी रहती है और दूसरों को सुख और समृद्ध जीवन जीने का अवसर प्रदान करती है।

आज संघर्ष के अर्थ में अपकर्षण हुआ है। हिंसा, तोड़-फोड़, आगजनी तथा हड़ताल जैसी कुवृत्तियाँ संघर्ष के आर्थिक दायरे में दाखिल हो गई हैं। इससे आहार और व्यवहार में दूषण आया है फलस्वरूप दुर्व्यवहार और दुष्कर्म करने में कहीं कोई संकोच नहीं होता।

विचार और व्यवहार में सत्य और अहिंसा का परिपाक सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है। इससे जीवन-चर्या में सहयोग और सत्कार करने के संस्कार उत्पन्न होते हैं। महात्मा गांधी ने समस्त मानवीय समस्याओं और व्यथाओं से पीछा छुड़ाने के लिए सत्य और अहिंसा का उपदेश दिया, जिसे उन्होंने प्रेम और सहयोग की संज्ञा दी। वे प्रायः कहा करते थे कि कायरता और अहिंसा आग-पानी की तरह एक साथ नहीं रह सकते। अपनी नपुंसकता को छिपाने के लिए, अहिंसा का आवरण धारण करने से तो हिंसक होना अधिक अच्छा है, क्योंकि वे मानते थे कि हिंसक में साहस होता है और उससे यह आशा की जा सकती है कि वह किसी-न-किसी दिन अहिंसक बन सकता है। महात्मा गांधी ने अपने जीवंत प्रयोग से यह सिद्ध कर दिया कि अहिंसा आत्मबल की प्रतीक है और यह ऐसा अमोघ शस्त्र है, जो कभी खाली नहीं जा सकता। वे अहिंसा को मात्र मोक्ष-प्राप्ति का साधन नहीं मानते थे, अपितु सामाजिक, शान्ति, राजनीतिक व्यवस्था, धार्मिक समन्वय और पारस्परिक निर्माण का भी साधन मानते थे।

बोध और विवेक जागने पर व्यक्ति से बुराई स्वयं छूट जाती है। अहिंसक चर्या के समक्ष यदि बुरे आदमी से बुराई नहीं छूटती तो समझा जाना चाहिए कि अहिंसक चर्या सदोष है। उसमें कहीं-न-कहीं निष्क्रियता का पुट है। अहिंसक चर्या में सर्वाधिक क्रियाशीलता होती है। गांधीजी व्यावहारिक अहिंसा के उत्तम उदाहरण थे। अहिंसा को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा था, "मेरी सम्मति में अहिंसा किसी भी रूप में निष्क्रियता नहीं है। जैसा कि मैंने अहिंसा को समझा है, यह संसार में सर्वाधिक क्रियाशील शक्ति है। अहिंसा सर्वोत्कृष्ट और सबसे महान नियम है।" उन्होंने एक स्थान पर कहा था, "भारत की इज़्ज़त की रक्षा के लिए मैं यह अधिक श्रेयस्कर समझूँगा कि हमारा देश शस्त्र का सहारा ले, बजाय इसके कि यह कायरों की तरह निस्सहाय होकर अपनी बेइज्जती होते हुए देखे।"

उन्होंने अहिंसा को अपना धर्म स्वीकार करके अपने को कभी असहाय अनुभव नहीं किया। उनकी मान्यता थी कि कठोर-से-कठोर हृदय भी अहिंसा के पर्याप्त ताप के आगे द्रवित हो जाता है और ताप उत्पन्न करने की अहिंसा की क्षमता की कोई सीमा नहीं है। मेरे सामने अपने पचास साल के अनुभव में ऐसी स्थिति कभी नहीं आई जब मुझे यह कहना पड़ा हो कि मेरे पास इसका कोई अहिंसक इलाज नहीं है। अहिंसा सभी समस्याओं के समाधान का उत्तम आधार है, मूलाचार है।"

विशुद्ध अहिंसक किसी अपराधी को कभी क्षमा नहीं करता। अहिंसक चर्या से अनुप्राणित होकर अपराधी अथवा बुरे आदमी से जब उसकी बुराई स्वयमेव छूट जाती है, वस्तुतः तभी क्षमा का अभ्युदय होता है। इसी आधार पर गांधीजी बुरे आदमी से नहीं, उसकी बुराई से सदा घृणा करते थे। सामाजिक स्तर पर अहिंसा और क्षमा की भूमिका—सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से उसका असर राष्ट्र पर हो विषयक विचारधारा में मुखर हो उठी है।

हमारी चर्या में क्षमा-भाव जाग्रत हो, इसके लिए हमें अपनी चर्या को अहिंसामुखी बनाना चाहिए। अहिंसक चर्या का मेरुदण्ड है—समता। संसार की सभी आत्माओं के प्रति समत्व दृष्टि रखना वस्तुतः समता है। जब प्राणी अपनी आत्मा के समान अन्य प्राणियों की आत्माओं को अनुभव करने लगता है तो वह हिंसा जैसे निकृष्टतम कृत्य नहीं कर सकता। ऐसी दशा में जीवन में सन्देह, अविश्वास, विरोध, क्रूरता का सर्वथा परिहार हो जाता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति और समाज के कटु सम्बन्धों का पूर्णतः प्रक्षालन तथा परिष्कार हो जाता है। वर्ग-भेद, जाति-भेद, प्रान्त-भेद की संकीर्ण तथा क्षुद्र विचारधारायें विसर्जित हो जाती हैं, फलस्वरूप समुदाय और समाज में मानवीय मूल्यों की पूजा प्रारम्भ होने लगती है। अहिंसा प्राणि-मात्र को पूर्ण विकास की प्रेरणा देती है।

इस संदर्भ में एक ऐतिहासिक घटना का स्मरण हो आता है। सन् 1857 की बात है, जब दिल्ली मात्र चार माह स्वतंत्र रही, पर इस अल्पकालीन स्वतंत्रता में क्रान्तिकारियों का नेतृत्व करने वाले, अंतिम मुगल सम्राट् बहादुरशाह ज़फ़र ने गोवध पर प्रतिबंध लगाकर जो काम अंजाम दिया, उसके लिए वह इतिहास में सदैव अमर रहेगा।

कहते हैं, उसने अहिंसा और क्षमा धर्म से अनुप्राणित होकर 28 जुलाई, 1857 को गो-वध पर प्रतिबंध लगाकर शाही फरमान जारी किया। वह फरमान इस प्रकार था :

"खल्क खुदा की, मुल्क बादशाह का, हुक्म फौज के बड़े सरदार का—जो कोई इस मौसम बकरीद में या उसके आगे-पीछे गाय या बैल या बछड़ा या बछड़ी लुकाकर या छिपाकर अपने घर में ज़िबह और कुरबानी करेगा, वह आदमी हुजूर जहाँपनाह का दुश्मन समझा जावेगा और उसको सजा-ए-मौत दी जावेगी।"

इतिहास साक्षी है कि 1 अगस्त, 1857 को दिल्ली में सम्पन्न बकरीद पर एक भी गौ की हत्या नहीं हुई। हिन्दू-मुसलमान भाईचारे के साथ एक-दूसरे के गले मिल रहे थे। उस दिन सभी ने फिरंगियों के खिलाफ साम्प्रदायिक एकता को मजबूत करने का संकल्प लिया था।

□□

स्वदेशी और राष्ट्रीय चेतना

'स्वदेशी' शब्द का सामान्य अर्थ है—अपने देश का। गांधी वाङ्मय में 'स्वदेशी' शब्द का अपना अर्थ है, उसका अपना अभिप्राय है। वह वस्तुतः आज पारिभाषिक शब्द बन गया है।

गांधीजी की मान्यता रही है कि " 'स्वदेशी' की भावना संसार के सभी स्वतंत्र देशों में है। भारत स्वदेशी भावना के द्वारा स्वतंत्र हुआ और अब उसका आर्थिक और आत्मिक विकास भी इसी भावना के द्वारा हो सकता है। प्रत्येक देश की प्रगति के नियमों का तकाजा है कि वहाँ के रहने वाले वहाँ की ही पैदावार और माल को ज्यादा अपनायें।"

स्व और पर का जन्म अर्वाचीन नहीं है। प्राण और पर्याय मिलकर प्राणी के रूप को स्वरूप प्रदान करते हैं। प्राण वस्तुतः 'स्व' तत्त्व है जबकि पर्याय है 'पर' तत्त्व। इसी से स्वदेशी और परदेशी जैसी अवधारणाएँ उत्पन्न हुई हैं। स्वदेशी के प्रति निजता और आत्मीयता होना प्राकृत है, परदेशी के प्रति सौहार्द और सहानुभूति हो सकती है, पर निजता नहीं। गांधीजी प्रत्येक देशवासी में इसी निजता को जगाना चाहते थे।

'स्वदेशी' में अपने देश के प्रति निजता की अनुभूति उत्पन्न होते ही उसमें राष्ट्रीय चेतना का संचार होने लगता है। अपने राष्ट्र में सुख-दुख भोगना सभी राष्ट्रवासियों को स्वीकार होता है। पराये सुख के लिए अपने देश को छोड़ना स्वदेशी मान्यता के प्रति द्रोह है, विद्रोह है। प्रत्येक राष्ट्र प्रेमी को अपने राष्ट्र की धूप और छाँव, अभाव और प्रभाव तथा सुख और दुःख समान रूप से प्रिय और पवित्र प्रतीत होते हैं, उसे परदेशी आकर्षण कभी अभिभूत नहीं कर पाते। दरअसल यही भावना राष्ट्रप्रेम का पोषण करती है।

महात्मा गांधी 'स्वदेशी' को व्रत मानते थे। व्रत में पर-पदार्थ के प्रति लगाव पूर्णतः विरत हो जाता है। स्वदेशी के प्रति पूर्ण निष्ठा और संकल्प में दृढ़ता का

परिपालन आवश्यक होता है। गांधीजी का मानना था, "स्वदेशी व्रत का निर्वाह तभी हो सकता है जब विदेशी का इस्तेमाल न किया जाए। किसी भी भारतवासी को अपने देश की बनी वस्तु का व्यवहार करने के लिए उपदेश करना पड़े तो यह उसके लिए शर्म की बात है।"

गुलाम भारत में इसी भावना के द्वारा गांधीजी देशवासियों में स्वदेशी के प्रति निजता के संस्कार जगाने में सफल हुए थे। इसी भव्य भावना से अनुप्राणित होकर कितने ही राष्ट्र प्रेमियों ने स्वतंत्रता के लिए उल्लेखनीय उत्सर्ग किए। हँसते-हँसते अपने देश की स्वतंत्रता हेतु अपने प्राण न्यौछावर कर दिए। बातों ही बातों में सहर्ष शहीद हो गए।

उत्सर्ग और बलिदान की कहानी लम्बी है पर इतना तय है कि गांधीजी के नेतृत्व में स्वदेशी की भव्य भावना के द्वारा अंग्रेजी शासन और सिंहासन हिलाकर रख दिया गया।

स्वदेशी ने हमें अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए उत्पादन के संस्कार दिए। कपास का उत्पादन किया गया। सूत काता गया। अपने देशी सीमित साधनों से अपने ही हाथों सूत कातना प्रारम्भ किया गया और खादी बुनी गई। खादी की गरिमा थी। खादी के आगे विदेशी वस्त्र और वेशभूषा निरर्थक अनुभूत हो उठे। खादी धारण कर प्रत्येक भारतवासी सुख और सन्तोष का श्वास लेने लगा। अपने श्रम और साधन-शक्ति पर उसका गर्वित होना स्वाभाविक है।

खादी में कितने शहीदों की सुगंध आती है। कितनी वीराङ्गनाओं और नौनिहालों का देश-प्रेम अनुभूत हो उठता है। खादी के तार-तार में 'स्वदेशी' की झंकार सुनाई पड़ती है और इसी भावना से अनुप्राणित होकर देशवासियों को अपने देश की माटी से, पानी से जीवंत आशा और विश्वास होना स्वाभाविक है। करोड़ों कण्ठों से एक ही स्वर फूट उठता है :

"सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा।"

स्वदेशी ने हमारे अन्दर दायित्व निर्वाह की भावना जाग्रत की थी। दायित्व-निर्वाह की सम्भावना श्रम-साधना पर निर्भर करती है। श्रम से व्यक्ति में स्वावलम्बन के संस्कार उत्पन्न होते हैं। 'स्वदेशी' का उत्तम व्यवहार एक सच्चा स्वावलम्बी ही कर सकता है। आज हमारे जीवन से श्रम के संस्कार प्रायः समाप्त होने लगे हैं। फलस्वरूप हमारे विचार और व्यवहार में इकसारता निस्तेज हो उठी है। इससे हमारे मन-मानस में 'स्वदेशी' की भावना निष्प्रभ होने लगी है।

आज का आदमी विदेशी आँख से जीवन जीने की सार्थकता आँकने लगा है। हमें जीवंत सुख और सुविधा के लिए विदेशी भाने लगा है। यही परिणाम है

कि हमारी स्वदेशी प्रतिभाएँ आज विदेशी परिधि पर दस्तक देने लगी हैं।

हमारे विचार और व्यवहार में गजब की गिरावट आई है। इस अनाहूत गिरावट का हेतु वैयक्तिक नहीं, सामूहिक है। जब शासन संविधान पर हावी हो जाता है, तब जीवन-विकास और उल्लास के दरवाजे प्रायः बन्द हो जाते हैं। आपाधापी से आदमी की प्रामाणिकता हाथ से छूट जाती है और उसका प्रभाव नीचे तक होता है। आज गांधी के देश में अप्रामाणिक जीवन जीने का मानो अभ्यास-सा हो गया है। ऐसी स्थिति में 'स्वदेशी' की भव्य भावना का मूल्यांकन कौन और कैसे कर सकता है?

इस अधम अवस्था से उबरने की शक्ति और सामर्थ्य आज भी 'स्वदेशी' में विद्यमान है। स्वदेशीवाद वस्तुतः द्वेष का रास्ता नहीं है, वह मूलतः निःस्वार्थ सेवा का सिद्धान्त है और उसकी जड़ विशुद्ध अहिंसा अर्थात् प्रेम में है। गांधीजी कहते हैं, अहिंसक मार्ग यह है कि जितनी उचित मानी जा सके, अपनी उतनी आवश्यकताएँ पूरी करने के बाद जो पैसा बाकी बचे, उसका वह प्रजा की ओर से ट्रस्टी बन जाए।

अगर वह प्रामाणिकता से संरक्षक बनेगा तो जो पैदा करेगा, उसका सद्व्यय भी करेगा। जब मनुष्य अपने आपको समाज का सेवक मानेगा, समाज की खातिर धन कमायेगा और समाज के कल्याण के लिए उसे खर्च करेगा, तब उसकी कमाई में शुद्धता आयेगी। संरक्षक वह है जो अपने ट्रस्ट के कर्तव्यों को ईमानदारी से और श्रेष्ठतम हितों में पूरा करता है।

संसार में अनन्त प्राणी हैं। मनुष्य इन सभी प्राणियों में श्रेष्ठ है। उसके पास बुद्धि-बल है, देह-बल है, उपयोग करने की अमोघ शक्ति और सामर्थ्य है। प्रकृति ने उसे श्रम करने के लिए दो हाथ दिए हैं और खाने के लिए केवल एक मुख दिया है। दोनों हाथों से किया गया अर्जन निश्चित रूप से अधिक है, तब उसे शेष का यथोचित विसर्जन करना चाहिए। यह वस्तुतः उसका धर्म बन जाता है।

धर्म से समुदाय और समाज में सन्तोष और सौहार्द का वातावरण पैदा होता है। इसी भावना से प्रेरित होकर गांधीजी प्रायः कहा करते थे, "जो ईमानदारी से धंधा करते हैं, वे भी देश की सेवा करते हैं। सेवा का दावा करने वाले लोग भार स्वरूप हो सकते हैं और धंधा करके कमाने वाले लोग शुद्ध सेवक हो सकते हैं।"

'स्वदेशी' की ढाल सत्याग्रह होती है। सत्याग्रह में जो चीजें होती हैं, एक तो वह कि जिस चीज के लिए लड़ते हैं, वह सचमुच सत्य है, और दूसरा यह कि उसका आग्रह रखने में अहिंसा का उपयोग होता है। गांधीजी का मानना है कि, "सत्याग्रही सदा बुराई को भलाई से, क्रोध को प्रेम से, झूठ को सत्य से और हिंसा को अहिंसा से जीतने की कोशिश करता है। दुनिया को बुराई से पाक करने

का और कोई उपाय नहीं है।" स्वदेशी में आस्था रखने वाला व्यक्ति यह काम दूसरे से नहीं अपितु स्वयं अपने से प्रारम्भ करता है। वह मानता है स्वयं का सुधार अथवा सुधारना दूसरे के सुधार का प्रोत्साहन होता है और इस प्रकार सुधार का विस्तार स्वयमेव वर्द्धमान होता जाता है। कहा भी है—'सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से, उसका असर राष्ट्र पर हो।'

'स्वदेशी' के संदर्भ में गांधीजी का एक संस्मरण याद आया है—"गाँवों में विलायती दवाएँ क्यों?"

एक बार एक अमरीकी बहन सेवाग्राम-आश्रम में रहने के लिए आई। एक दिन काम करते हुए अचानक वह किसी तरह जल गई। सोचा, यहाँ किसी के पास कोई-न-कोई मरहम तो होगा ही, इसलिए उन्होंने मरहम मांगा। गांधीजी ने कहा, "इस पर मिट्टी लगाओ।" उसने ऐसा ही किया और उसे आराम भी मालूम हुआ।

वह किसी पत्र की प्रतिनिधि थी और भारतीय संस्कृति का अध्ययन करने के लिए इस देश में आई थी। इसलिए उसे समझाते हुए गांधीजी बोले, "गाँवों में विलायती दवाओं का उपयोग क्यों किया जाए? अगर ऐसा हुआ तो हमारे लोग कंगाल बन जायेंगे। मामूली घाव का क्या इलाज हो सकता है, यह हमें जान लेना चाहिए। उसके स्थान पर झट से तैयार मरहम लगाना मेरे विचार में एक प्रकार से आलस्य को ही बढ़ावा देना है पुराने जमाने में हमारे देश की बूढ़ी बहनें 'देसी' दवाइयों का अच्छा ज्ञान रखती थीं। आज भी रखती हैं, लेकिन अब उसमें कुछ सुधार होना चाहिए। अगर उन्हें वैज्ञानिक रीति से समझाया जाए तो वे गाँवों में लेडी डॉक्टर जरूर बन सकती हैं। आप एक शिक्षित महिला हैं। हमारे देश की स्थिति का अध्ययन करने आई हैं, इसलिए आप इन बातों की ओर खास तौर से ध्यान दीजिएगा।"

□□

अस्पृश्यता : कारण और निवारण

खेल-खेल में गाँव की भंगिन से मैं छू गया। सारे संगी-साथियों ने एकजुट होकर मेरा बहिष्कार कर दिया। उन सबने अंटे बाँध लिये और मुझे अछूत घोषित कर दिया, तब मुझे बहुत बुरा लगा और खिन्न होकर मैं खेल के मैदान से अपने घर लौट आया और द्वार पर खड़े होकर अम्मा को बुलाने लगा। अम्मा ने आकर पूछा, "क्या बात है? अन्दर आओ।" अम्मा को पाकर मैं रोने लगा ओर रोते-रोते मैंने सारी कहानी कह सुनाई।

अम्मा ने कहा, 'रोओ मत, मैं अभी सब ठीक किये देती हूँ।" उन्होंने लोटे के पानी को नाक की स्वर्णिम बाली (लोंग) से छुआ कर मेरे ऊपर छिड़क दिया और मुझ पर लगा छूतपन (दूषण) छूट गया। इस प्रकार मैं संगी और साथियों में पुनः समाहृत हो गया। लगभग पैसठ साल पहले की यह घटना मुझमें आज भी तरोताजा है।"

अस्पृश्यता वस्तुतः एक भाववाचक संज्ञा है, जिसका अर्थ है स्पर्श की अयोग्यता तथा अछूतपना। यह हिन्दू समाज में चमार और भंगी प्रायः अछूत माने जाते हैं। यह मानना वस्तुतः प्राकृत नहीं, कृत है। वर्णवाद के विकृत रूप का दुष्परिणाम है—अस्पृश्यता। कालान्तर में अज्ञान और अहंकार के कारण शूद्र वर्ण में सक्रिय लोगों को जन्म के आधार पर अस्पृश्य माना जाने लगा। विचार कीजिए नैत्यिक निबटने के समय अपने-अपने मल-मूत्र की सफाई तो प्रत्येक आदमी करता है। इस प्रकार प्रत्येक आदमी उस अवस्था में अस्पर्श होता है। जब आदमी हरिभजन, पूजा-पाठ या आत्मध्यान में लीन होता है, तप-संयम पूर्वक व्रत विधान में सक्रिय होता है, तब वह ब्राह्मण होता है। इसी प्रकार स्व-पर की रक्षा और व्यवसाय में जब प्रवृत्त होता है, तब उस अवस्था में वह क्रमशः क्षत्रिय और वैश्य होता है। आरम्भ में कार्य के आधार पर ये चारों वर्ण सक्रिय थे। तब इनका अपना अर्थ था और था अपना उपयोग। कालान्तर में इनका अर्थ और उपयोग रूढ़ हो गया

और जाति के रूप में परिवर्तित होकर विकृत होता गया। अज्ञानता और प्रमाद के वशीभूत वर्ण-व्यवस्था की मौलिक आर्थिकता भंग हो गई। शूद्र बन गया अस्पर्श।

भगवान महावीर, बुद्ध और महात्मा गांधी जैसे महापुरुषों ने इस पर गंभीरता से विचार किया। गिरों को उठाने के लिए पुरजोर प्रयास किये गये। व्यक्ति-उदय तथा वर्ग-उदय के स्थान पर भगवान महावीर सर्वोदय का आह्वान करते हैं। बुद्ध जी अन्त्योदय में रुचि रखते हैं। महात्मा गांधी अस्पृश्यता को राष्ट्रीय अभिशाप कहते थे। गांधी जी विचार और व्यवहार में बुरे व्यक्ति से नहीं, बल्कि उसकी बुराई से घृणा करते थे।

भगवान महावीर की मान्यता थी कि आदमी जन्म से ही नहीं बल्कि अपने कर्म से कुलीन और मलीन बना करता है। उसके कर्म उसे छूत अथवा अछूत बनने की योग्यता/क्षमता प्रदान करते हैं। सत्कर्म से सज्जन और दुष्कर्म से दुर्जन कहलाते हैं लोग। समुदाय और समाज में भला ऐसा कौन है जो दुर्जन बनना चाहेगा?

प्रत्येक मनुष्य में आत्मा और शरीर का होना अनिवार्य है। जब आत्मा, ईश्वर और शरीर एक है और वह समान है तो फिर अछूत और अस्पृश्य कोई हो ही नहीं सकता। सत्त्व सदा शाश्वत होता है। सत्त्व में जब समत्व जगता है, तभी उसमें सम्यक्त्व जागने के शुभ संस्कार उत्पन्न होते हैं। आत्मिक और आध्यात्मिक विकास है। इसी सत्य को ध्यान में रखकर गांधी जी प्रायः कहा करते थे कि हमें बुरे आदमी से नहीं, अपितु उसकी बुराई से घृणा करनी चाहिए। उसमें से जब उसकी बुराई का मार्जन हो जाता है, तब उसमें निर्मलता के दर्शन हो उठते हैं। निर्मल मन ही सच्चा धर्म है।

हमारा अन्तरंग जब क्रोध, मान, माया, लोभ तथा राग-द्वेष से अनुप्राणित दूषित वृत्तियों से ओत-प्रोत होता है तब तो उसमें अस्पृश्यता मूलक दुर्गुणों का समावेश स्वयमेव हो जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। ऐसे प्राणी के यहाँ खाना-पीना तो दूर, उसे स्पर्श करना भी अधर्म है। उसके दुर्गुण ही उसके दूषण उत्पन्न करते हैं। अस्पृश्यता संक्रामक रोग होता है जो छूने मात्र से फैलता है। हमारा अन्तरंग इन सभी मलीनताओं से मुक्त हो तभी उसमें सत्य, अहिंसा अचौर्य, अपरिग्रह और शील-समत्व जैसे आत्मिक और शुभतम संस्कार जागृत हो सकते हैं। इन सभी आत्मिक गुणों के उजागरण से मनुष्यता का प्रायः अभ्युदय सुनिश्चित है।

अस्पृश्यता दूर करने का अर्थ है—समस्त सांसारिक प्राणियों के साथ मैत्री भावना को फैलाना। समता और अहिंसा इस काम को पूरा करने के लिए उत्तम उपाय हैं। जीवमात्र के साथ भेद-भाव को मिटाना वास्तविक अस्पृश्यता निवारण है। भगवान महावीर कहते हैं—परस्परोपग्रहो जीवानाम् अर्थात् परस्पर में सब जीवों के साथ समता का व्यवहार करना। विचार कीजिए दुष्ट अथवा श्रेष्ठ मनुष्य मात्र

के प्रति धर्मी अथवा अधर्मी के प्रति समभाव की सर्वथा अपेक्षा है, पर अधर्म के प्रति वह कदापि नहीं।

घृणा करने से घृणा प्रायः घनीभूत होती है। यदि सच्चे संकल्प से घृणा को समाप्त करना है तो उसे भीतर से मिटाया जा सकता है। प्रेम और सहानुभूति के साथ विचार और व्यवहार में इकसारता सौ दवाओं से भी अधिक कारगर सिद्ध होती है। घृणित सामाजिक दूषण तथा अज्ञानता के कारण इस अवस्था को प्राप्त हुआ है, पर यदि हमारा सच्चा और पक्का संकल्प है कि उसे घृणा से मुक्त करना है तो हमें उसके साथ समता और सौहार्दपूर्ण व्यवहार करना अभीष्ट है। व्यक्ति कभी घृणित नहीं होता, घृणित होती है उसमें अन्तर्भुक्त बुराई। गन्दे बर्तन को हम नित्य मांजते हैं, और ऐसा करने पर वे ही बर्तन हमारे नैत्यिक व्यवहार में आने की पात्रता रखने लगते हैं। यह दृष्टिकोण हमें अछूतों के साथ भी रखना परम अपेक्षित है।

घृणित से घृणा करना हिंसा है। हिंसा घृणा का घर है। उससे उबरने के लिए हमें अहिंसापरक व्यवहार करने की आवश्यकता होती है। गांधी जी प्रायः कहा करते थे—"कोई आदमी कितना ही पतित क्यों न हो? यदि उसका इलाज कुशलता से और सहानुभूति के साथ किया जाए तो उसे प्रायः सुधारा जा सकता है।"

व्यसन का सामाजिक दुष्परिणाम है—अस्पृश्यता। मांस, मदिरा और शहद का खाना-पीना, शिकार करना और जुआ खेलना तथा परस्त्री गमन और वेश्या मुखी होना ये सप्त व्यसन हैं, जिनमें संसार के अन्य अनन्य व्यसन अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। विचार कीजिए तो लगता है कि व्यसनी वस्तुतः सर्वोत्तम है अस्पृश्य। व्यसनी अपने जीवन से जब और जैसे ही व्यसन बाहर निकाल फेंकता है, उसका जीवन तत्काल धर्ममय हो जाता है। धर्म का नाम लेकर जाप जपना, मंदिर में जाना, दान देना तभी सार्थक और सफल हैं जब हम अपने हर कार्य में सावधानी और विवेक का व्यवहार करें। धर्म कोई खेल नहीं है। सद्विचार, सद्भावनाएँ और विवेकपूर्ण व्यवहार के बिना धर्ममय होना तो दूर उसके निकट पहुँचना भी कठिन है।

धर्म सभी को गंदगी से निकालकर निर्मल सिंहासन पर प्रतिष्ठित करता है, फिर यह कैसा हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज है जहाँ अस्पृश्यता का निरन्तर पोषण किया जाता है। अस्पृश्यता ने हिन्दू धर्म को उसी प्रकार विषैला बना दिया है, जिस प्रकार जहर की एक बूंद लोटे भर दूध को विषाक्त अपेय बना डालती है। जो राष्ट्र व्यसनों का शिकार हो गया है, उसका सर्वनाश सुनिश्चित है। इतिहास में इसके प्रमाण मौजूद हैं कि दुर्व्यसनों में फँसने वाले महल अन्ततः मसान हो गये, राष्ट्र के राष्ट्र विनाश के गहरे गर्त में डूब गये। महात्मा गांधी ने जीवन के हर पहलू पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। अस्पृश्यता कारण और निवारण पर

उनकी वैचारिक संक्षिप्ति कितनी प्रेरक और कितनी उपयोगी है?

"अस्पृश्य वह है जो झूठ बोले और पाखण्ड करे। अस्पृश्यता हिन्दू समाज के लिए एक आत्म-प्रवंचना मात्र है। धर्म और नैतिकता दोनों ही दृष्टियों से यह हेय है। जहाँ अस्पृश्यता की भावना आ गई कि मानवता वहाँ से विदा हो जाती है। कोई व्यक्ति मानवता का दम्भ भी करे और अस्पृश्यता भी कायम रखना चाहे तो वह ढोंगी है। अस्पृश्यता ऐसा पाप है कि वह समाज की सारी रचना में जहर भरता है, इसलिए उसे मिटा डालना चाहिए।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ हम पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों और प्रकृति की अन्य तमाम वस्तुओं के प्रति रागात्मक संबंध रखते हैं, उनसे सीधा सम्पर्क रखते हैं, फिर मनुष्य का मनुष्य के साथ छुआछूत जैसा भेद-भाव रखना कितना असंगत और अप्रिय है। भारतीय धर्मशास्त्र प्राणी मात्र के साथ सदा सहृदयता और सौहार्दपूर्ण विचार और व्यवहार करने-कराने की संस्तुति करते हैं। द्वेष और द्वन्द्व का वातावरण हमें कभी प्रिय नहीं रहा है, फिर भला उसके पोषण के लिए हम क्यों ध्यान दें? हम तो स्वयं जियें और दूसरों को जीने का सुअवसर प्रदान कर अपने मानवीय व्यवहार को सार्थक और सफल बनायें। अस्पृश्यता पर आधारित महात्मा गांधी के जीवन पर आधारित एक संस्मरण का स्मरण होना हुआ है।

"एक बार की घटना है जब साधन विहीन महात्मा जी ने अहमदाबाद में कोचरब में आश्रम खोला। कहते हैं, उसी समय दूधाबाई नामक एक हरिजन परिवार वहाँ रहने के लिए आ गया। हरिजन के आने से गांधी जी को कोई आपत्ति नहीं थी, उनकी दृष्टि में मनुष्य मात्र सब एक हैं, परन्तु जो भाई आश्रम को आर्थिक सहयोग जुटा रहे थे, वे हरिजन के आगमन से असंतुष्ट थे।

गांधीजी के समतावादी दृष्टिकोण के आगे वे मौन रहे पर उन्होंने आश्रम को आर्थिक सहयोग देना बंद कर दिया। गांधीजी इससे विचलित नहीं हुए और उन्होंने मानव समता के सिद्धांत और संस्कृति को नहीं छोड़ा। उनके आत्मविश्वास का परिणाम यह हुआ कि दूसरे रोज प्रातःकाल ही कोई अजनबी अपना परिचय न देकर गांधीजी के चरणों में दसियों हजार रुपये भेंट कर गया।" अनेक विरोधों और कठिनाइयों का दृढ़ता के साथ सामना करके वे अन्ततः सफलता प्राप्त कर लेते थे। वे अनीति के आगे कभी नहीं झुके।

□□

शरीर-श्रम की महिमा

मनुष्य का सम्बन्ध जब कर्म से जुड़ गया, तबसे उसके जीवन में श्रम अनिवार्य हो गया। प्रकृति में विकास होता है और मनुष्य करता है क्रान्ति। विकास स्वयमेव होता है जबकि क्रान्ति में कर्म की प्रधानता रहती है। बिना श्रम के क्रान्ति नहीं हो सकती।

श्रम जब शरीर के साथ किया जाता है तब वह मजूरी अथवा मजदूरी का रूप धारण करता है। वही श्रम जब बुद्धि-मस्तिष्क के साथ सम्पन्न होता है तब कारीगरी का जन्म होता है। श्रम जब हृदय के साथ किया जाता है तब कला का प्रवर्तन होता है। जीवन जीना एक कला है।

जीवन में शारीरिक, मानसिक और हार्दिक श्रम और परिश्रम की आवश्यकता पड़ती है। जब तक श्रम का पूर्ण परिपाक सम्पन्न नहीं होता, तब तक जीवन की सफलता और विकास सम्भव नहीं। मनुष्य सदा सचेष्ट रहता है। वह निरन्तर खोजता है। वह पेड़-पौधों की भाँति खड़ा नहीं रहता है। उसमें कर्मठता है। वह कर्म करता है। ज्ञान और विवेक के अनुसार शुभ और अशुभ, सार्थक और निरर्थक कर्म करता ही है। मनुष्य का जीवन सदा सकर्मक है। वह अपनी आँखों से देखता है, कानों से सुनता है, नासिका से सूंघता है, मुख से खाता और बोलता है। वह शरीर से स्पर्श करता है। इसी प्रकार वह मन से राग और द्वेष जन्य कर्म करता है। जब वह हार्दिक अनुभूति करता है तब आत्मिक गुणों से अनुप्राणित कर्मों का कौशल प्रायः सम्पन्न होता है।

महात्मा गांधी प्रायः कहा करते थे कि श्रम करना, निरन्तर कर्मशील बने रहना ही मनुष्य का धर्म है। जो व्यक्ति श्रम नहीं करता, केवल दूसरों के श्रम पर ही खाता-पीता है, वह अन्यायी है। अन्यायी व्यक्ति अपवित्र होता है। गांधीजी आश्रमवासियों से प्रायः कहा करते थे, आश्रमवासियों! तुम भ्रम में हो। तुम्हारे हाथ पवित्र नहीं हैं। पवित्र हाथ तो वे होते हैं जो निरन्तर श्रम करते हैं। श्रम करने

के कारण जिन हथेलियों में गड्ढे पड़ जायें वास्तव में वे हथेलियाँ ही पवित्र होती हैं। उनका सौन्दर्य निराला ही होता है। उठो, जाओ आज से ही कर्मशील बनो, श्रम करो और पवित्र बनो।

'मुफ्त का चंदन, घिस मेरे नन्दन' यह कहावत तो सर्वविदित ही है। अधिकांश लोग इसी सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं, किन्तु सुखी वे ही हैं जो अपने पसीने की रूखी-सूखी खाकर भी सन्तुष्ट रहते हैं।

श्रम से जीवन में स्वावलम्बन के शुभ संस्कार जाग्रत होते हैं। स्वावलम्बी सदा अप्रमादी होता है। दूसरों पर निर्भर रहने वाला व्यक्ति अपने विकास के सारे दरवाजे स्वयं बंद कर देता है। श्रम-साधना से जीवन में उपयोग करने के शुभ संस्कार उत्पन्न होते हैं।

जिनके जीवन में श्रम के संस्कार जन्म नहीं लेते उन्हें अपने जीवन में अनेक प्रकार के रोग आ घेर लेते हैं। उन्हें भूख नहीं लगती, नींद के लिए वे नींद की गोली के मुंतजिर रहते हैं। ब्लडप्रेशर घटता-बढ़ता रहता है। मधुमेह के शिकार हो जाते हैं। इन सभी मौसमी किरायेदारों की भाँति कभी जाने का नाम न लेनेवाली अनाहूत आपत्तियों से यदि बचना है तो चर्या को श्रमशील बनाना श्रेयस्कर है। श्रमशील व्यक्तियों के जीवनवृत्त हमारे लिए सदा प्रेरणा के मूल हेतु बन जाते हैं। जिनके जीवन में आत्म-श्रद्धा, श्रम में अभिरुचि, तपस्या में संल्लीनता का संचरण होता है, वे जीवन में असम्भव से असम्भव कर्मों को सहज में सम्पन्न कर लेते हैं।

श्रमी सदा सन्तुष्ट और प्रसन्न रहता है। उसे रात्रि में चाँद विहँसता-सा दिखलाई देता है। सूर्य की किरणें पोषणकारी और ज्ञान प्रकाश आकीर्ण करती हैं। वे स्वयं सुखी और सानंद रहते हैं तथा अपने सान्निध्य से दूसरों को सुख और सन्तोष का वातावरण जुटाते हैं।

अपने मन-मानस के साथ जो श्रम में सक्रिय होता है, उसके श्रम का परिणाम सदा आह्लादकारी होता है। जो विवशता और समस्या से बाध्य होकर श्रम करते हैं उन्हें श्रम में आनन्द नहीं आता। उन्हें श्रम वस्तुतः बोझ अनुभूत हो उठता है। अपनी मानसिक स्वीकृति के साथ जो श्रम-परिश्रम करते हैं उनमें ओज का उदय होता है।

किसी समय एक गाँव में मंदिर बन रहा था। वहाँ अनेक व्यक्ति काम में लगे थे। एक आदमी उधर से गुजरा। उसने एक श्रमिक से पूछा—"भाई, क्या कर रहे हो? वह झल्लाकर बोला, 'देखते नहीं हो, पत्थर तोड़ रहा हूँ'?" कुछ दूर जाकर उसने दूसरे श्रमिक से वही प्रश्न पूछा, वह बोला—"भाई, पेट पापी है, इसके लिए क्या-क्या नहीं करते?' तीसरे श्रमिक से जब यही बात पूछी गयी तो वह खुशी

से झूमता हुआ बोला, 'भगवान का मन्दिर बना रहा हूँ।' एक ही काम करने वाले तीन व्यक्तियों की अलग-अलग प्रतिक्रियायें इस बात को स्पष्ट करती हैं कि किस स्थिति में कौन व्यक्ति कितना लाभान्वित होता है; यह उसकी ग्रहणशीलता पर निर्भर करता है। श्रम-साधना में सक्रिय व्यक्तियों में भी उत्तेजना, निराशा और आनंद निमित्त रूप में काम कर सकते हैं। पर जो सच्चे मन से श्रम साधना करते हैं, वे उत्तेजना और निराशा से मुक्त होकर सदा आनन्द का अनुभव करते हैं।

श्रम से वंचित जीवनचर्या प्रमादी तो होती ही है, उसमें दुर्मति का अनाहूत प्रवेश हो जाता है। दुर्मति के लिए किसी पदार्थ के उपयोग करने का प्रश्न तो उठता ही नहीं, उसके लिए पदार्थ के मूल्यांकन करने की क्षमता भी सम्भव नहीं होती।

एक बार एक संत स्वभावी श्रमिक अपने बुने हुए कपड़े का एक थान लेकर समीप के किसी गाँव में विक्रय करने जा रहा था। मार्ग में एक दुर्मति से भेंट हो गयी। उस दुर्मति ने सोचा कि आज संत की परीक्षा ली जाये कि ये कब तक क्रोध नहीं करते हैं? यह सोचकर वह संत स्वभावी विक्रेता के पास आया और पूछा, "यह थान कितने रुपये का है जी?"

"आठ रुपये का।" दुर्मति ने थान के दो भाग कर दिये और एक टुकड़े का भाव पूछा, "यह कितने का है?" "चार रुपये का।" दुर्मति ने थान के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और कहा, भाई, ये टुकड़े तो मेरे किसी काम नहीं आयेंगे।" "हाँ भाई, तू इन्हें रहने दे। मैं ही इनका उपयोग करने का प्रयत्न करूँगा।" "महाराज, ये टुकड़े मैंने किये हैं, मैं आपको आठ रुपये दिये देता हूँ।" "नहीं भाई, अब मैं तुम्हारे पैसे नहीं ले सकता।" ये टुकड़े तुम्हारे कुछ काम आयेंगे नहीं। अनीति का पैसा मैं नहीं ले सकता। एक और ध्यान देने योग्य बात है—तुमने कपड़े के इस थान को नष्ट करके केवल आठ रुपये का ही नुकसान नहीं किया, अपितु उस किसान की सारी मेहनत धूल में मिला दी, जिसने अपना खून-पसीना एक करके कपास उगाया था। जिन लोगों ने कपास से सूत काता, उन सबका श्रम व्यर्थ हो गया न?

"देखो भाई, उस कपड़े के थान से भी कहीं अधिक मूल्यवान है मनुष्य-जीवन। कितने श्रम और सत्कर्मों से यह प्राप्त हुआ है, इसे नाहक नष्ट न कर देना।"

श्रमी निरर्थक क्रोध और अनीति से बचा करता है। उसमें सहनशीलता और उपयोग के शुभ संस्कार स्वयमेव जाग्रत होने लगते हैं। साबरमती आश्रम में गांधी जी के पास विनोबा पहुँचे। बोले—"आपके साथ रहूँगा?" गांधी को तो उस समय चालीस करोड़ आदमी अपने साथ चाहिये थे। स्वीकृति मिल गई। दूसरे ही दिन विनोबा ने पूछा—"महात्मा जी! मैं क्या काम करूँ?" गांधी ने कह दिया—"कुएँ

से पानी खींचकर लाया करो।"

युवक विनोबा दुबले-पतले थे तथापि वे काम में जुट गये। गांधी ने देखा, फिर कहा—"विनोबा! तुम बहुत दुर्बल हो। पानी खींचने का काम रहने दो। तुम्हें दूसरा काम दूँगा।" किन्तु विनोबा ने उत्तर दिया—महात्मा जी, शरीर से दुर्बल हुआ तो क्या हुआ? मेरी आत्मा तो दुर्बल नहीं है। आप देखिये, अकेले गांधीजी ने ही नहीं, सारे भारतवर्ष ने भी नहीं, पूरे विश्व ने फिर देख लिया कि विनोबा जिसका नाम था, वह क्या था? श्रम ने उसे महापुरुष बना दिया।

□□

भेदों में अभेद

धर्म मूलतः एक है। शाश्वत है। उसके माननेवाले अनेक हैं। मानने वालों के आधार पर आज संसार में अनेक धर्म और धार्मिक मान्यताएँ प्रचलित हैं। अज्ञानता और आग्रह प्रियता के कारण समय-समय पर धर्म के नाम पर भयंकर युद्ध हुए हैं। पारस्परिक जन-जीवन में विषमता का संचार हुआ है। समाज में व्याप्त विषमता का परिहार करने के लिए समय-समय पर उदारमना संतों के द्वारा समता का संचार किया गया, फलस्वरूप जन-जीवन में धार्मिक समभाव का वातावरण उत्पन्न हुआ। लोगों में सभी धर्मों के प्रति आदर भाव जाग्रत होने लगा।

धर्म मानव के विचार और आचार को विशुद्ध बनाने वाला तत्त्व है। जीवन के जितने भी निर्मल दिव्य और भव्य बनाने की विधि और विधान हैं अथवा क्रिया-कलाप हैं, वस्तुतः वे सभी धर्म हैं। धर्म मंगलमय है। वह विश्व का कल्याणकारक और प्राणी मात्र के योग-क्षेम का संवाहक है।

आधुनिक युग में महात्मा गांधी ने सभी धर्मों के प्रति समान दृष्टि रखने की बात का समर्थन किया है। धर्म को जानने और मानने में आग्रह से बचना सर्वथा श्रेयस्कर है। ऐसा विचार और व्यवहार सर्वधर्म समभाव का प्रवर्तक होता है।

संसार में अनेक धार्मिक मान्यताएँ प्रचलित हैं जिनमें वैदिक, बौद्ध, जैन, इस्लाम, ईसाई, यहूदी, पारसी आदि अधिक उल्लेखनीय हैं। इन सभी धार्मिक मान्यताओं का एक सर्वव्यापी धार्मिक गुण है जो प्राणी को उन्मार्ग से हटने और सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्रदान करता है। जो आत्मिक और आध्यात्मिक विकास की बात करता है। इस प्रकार धर्म जीवन में ज्ञान-प्रकाश विकीर्ण करता है। इससे ममता-ममत्व का विसर्जन और समता-समत्व का अर्जन होने लगता है। संसार के प्राणी प्रायः समान धर्मी हैं, उन सभी के प्रति हमारा अंतरंग समभाव से संपृक्त होना चाहिए।

जीवन में सर्वधर्म समभाव जाग्रत हो इसके लिए संसार की सभी धार्मिक मान्यताओं में जीव दया तथा करुणा पर समान रूप से बल दिया गया है। वैदिक मान्यता में दया, सेवा, दान के रूप में करुणा का प्रतिपादन किया गया है। बौद्ध मान्यता में करुणा, दया तथा अनुकम्पा को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है।

जैन धर्म में सत्य और अहिंसा के द्वारा समता-समत्व अथवा समभाव का प्रवर्तन किया गया है। इस्लाम में 'सल्म' अर्थात् शांति पर गहराई से बल दिया गया है। जरूरतमंदों, दुःखियों की इमदाद और सेवा से उसका पोषण संभव होता है। ईसाई मान्यता में दुःखित, पीड़ित, आर्त एवं रुग्ण प्राणियों की सेवा को सर्वोपरि माना गया है। यहूदी मान्यता में दुःखियों की सेवा, अनाथों, पीड़ितों और विधवाओं की सेवा का बड़ा महत्त्व है। पारसी मान्यता में सहयोग, सेवा, दया और परोपकार का बड़ा महत्त्व है।

महात्मा गांधी ने पूरी मानवता को एक सूत्र में बाँधने के उद्देश्य से सर्वधर्म समभाव को अपनी दैनिक पूजा का विषय बनाया था। आज संसार में हिंसा के ताण्डव हो रहे हैं। मानवता कराह रही है। कदाचार और व्यभिचार तथा अनीति और अनाचार ने मनुष्य-मनुष्य में भेद-भाव, छुआ-छूत और छोटे-बड़े विग्रह खड़े कर दिये हैं। आत्मिक अनुग्रह विरल हो गया है। इस भयावह और घुटन से उबरने के लिए महात्मा गांधी सभी धर्मों का सार और सारांश सत्य और अहिंसा हर इंसान के सोच और समझ का विषय बनाना चाहते थे। सर्वधर्म समभाव से अनुप्राणित जीवनचर्या परस्पर में सौहार्द और संवेदना के संस्कार उत्पन्न करती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध और ईसाई के संकीर्ण दायरों से बाहर निकल आता है। उसके रक्त-परीक्षण कराने में कहीं-कोई भेदभाव उभरकर उसे किसी भी दायरे का हकदार नहीं बनाता है। मनुष्य के रक्त में सभी धर्मों का सार समान रूप से मुखर हो उठता है। इसीलिए गांधीजी की प्रार्थना में ईश्वर, अल्लाह, गॉड, तथागत और आर्हत् समानधर्मी और समभावी होकर प्राणीमात्र से प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। वे किसी आदमी को बुरा नहीं मानते, उन्हें दरअसल आदमी से नहीं, उसकी बुराई से परहेज अवश्य होता है।

जागतिक और आध्यात्मिक जीवन विकास के लिए समभाव का संबल सर्वोत्तम है। असंतुलित और विषमता युक्त मन में तनाव, चिन्ता, क्रोध, शोक, घृणा, द्वेष-ईर्ष्या आदि मानसिक बीमारियाँ प्रायः पैदा होती हैं, जिनसे अल्सर, खुजली, गैस, ब्लडप्रेशर, हार्टट्रबल, अतिसार, टी.बी., मधुमेह और कैंसर जैसे प्राणलेवा रोगों को अनाहूत आमंत्रण मिल जाता है।

सर्वधर्म समभाव के अभाव में हमारा सामाजिक जीवन, परिवार, जाति, संघ,

प्रांत, संप्रदाय, ग्राम, नगर, राष्ट्र आदि सब अशांत हैं। उनमें रंगभेद, राष्ट्रभेद, प्रांतभेद, ग्राम-नगरभेद, परिवार-भेद या जाति और संप्रदाय भेद से लेकर व्यक्ति भेद विभक्त होकर पारस्परिक संघर्ष, ऊँच-नीच की मिथ्या मान्यताओं, अस्पृश्यता और अंधविश्वासों, दंगा-फसाद, तोड़-फोड़, आतंक, आगजनी आदि उत्पात करने का उन्माद उत्पन्न होने लगता है।

महात्मा गांधी, वास्तव में रामराज्य की स्थापना करना चाहते थे, जहाँ श्रीराम अपनी माँ कौशल्या, कैकई द्वारा परोसा भोजन जिस चाव से करते हैं, उसी भावना से संपृक्त होकर वे शबरी के झूठे बेर खाने में आनंदानुभूति करते हैं। माँ कौशल्या-कैकई की कुलीनता और शबरी की शूद्रता उनके मनमानस को कभी विचलित नहीं करती। उनकी दृष्टि में समत्व का सागर सदा सहर्ष हिलोरें लेता है और छोटे-बड़े दीन और कुलीन एक साथ सौहार्दपूर्वक उसमें अवगाहन करते हैं, आनंदित होते हैं।

गांधीजी की कथनी और करनी में सर्वधर्म समभाव की इकसारता के दर्शन सहज में हो जाते हैं। उनकी दृष्टि में मानव जाति में भेदभाव और अस्पृश्यता के लिए कभी कोई गुंजाइश नहीं रही। वे आरम्भ से ही सर्वोदय के पक्षधर रहे।

गांधीजी के आश्रम में एक नवागत महिला ने अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए पूछा—बापू, आपके पास विभिन्न धर्मावलम्बी अपनी-अपनी धार्मिक समस्यायें लेकर पधारे थे पर आपने सबको एक ही उपदेश देकर विदा किया, आखिर ऐसा क्यों?

गांधीजी ने कहा, "जो ईसा की प्रार्थना करता है, उनमें आस्था रखता है, वह ईसाई है। बुद्ध के मार्ग पर चलने वाला बौद्ध और विष्णु की उपासना करने वाला वैष्णव, जो 'जिन' के बतलाये मार्ग पर चलता है वह है जैन, जो अल्लाह की इबादत करता है, वह मुसलमान है। सभी अलग-अलग रास्तों पर जा रहे हैं मगर वे सारे रास्ते आगे चलकर एक जगह पर मिल जाते हैं। संसार के सारे धर्म ऐसे ही हैं। बाहर से लगता है, यह मुसलमान है, यह हिन्दू है, यह ईसाई है, यह जैन है, यह बौद्ध है। भीतर जाने पर वे सब एक ही सत्य पर पहुँचते हैं। सबकी भलाई में सब अपनी भलाई मानते हैं।" गांधीजी मुस्कराते हुए बोले, "आपने कभी खरबूजा देखा है। उसके बाहरी आवरण पर कुछ लकीरें होती हैं, लेकिन खरबूजे के भीतर एक भी लकीर नहीं होती।

सबके भीतर सत्य एक ही है। ये वर्ग भेद, सम्प्रदाय तो वस्तुतः बाहरी दायरे हैं, हमें भीतरी एकता को पहचानना और ग्रहण करना है और यह तभी संभव है जब हम अपने मन-मानस में सर्वधर्म समभाव को जाग्रत करें।

□□

सुखी जीवन के अमोघ साधन

संसार के अनंत प्राणधारियों में मनुष्य सर्वोत्तम प्राणी है। इसकी उत्तमता का आधार है इसमें विद्यमान ज्ञान और श्रद्धान की अमोघ शक्ति और सामर्थ्य। ज्ञान के अभाव में मनुष्य और पशु में कोई विशेष अन्तर नहीं रहता। बिना श्रद्धान के ज्ञान का कोई कारगर प्रयोग और उपयोग नहीं हो पाता।

ज्ञान और श्रद्धान से जीवन में अभय और आत्मविश्वास को जाग्रत किया जाता है। अज्ञानता और मिथ्यात्व से भय का जन्म होता है। भय अत्यंत भयंकर होता है। इससे मनुष्य का जीवन त्रास और संत्रास से भर जाता है। भयोदय से बुद्धि तत्त्व प्रायः कुंठित हो जाता है, ऐसी दशा में करणीय और अकरणीय का यथातथ्य निर्णय कर पाना प्रायः संभव नहीं रहता।

शास्त्रों में भय-भेद करते हुए उसे सात भेदों में विभक्त किया गया है। यथा :

1. इहलोकभय
2. पर-लोकभय
3. आदानभय
4. अकस्मात्‌भय
5. वेदना भय
6. मरण भय
7. अपयश भय

संसार के अन्य अनन्य भय-भेद इन्हीं में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं।

प्रमाद से भय का जन्म ही नहीं, अपितु पोषण भी होता है। जीवन में अभय के जागते ही भय प्रायः समाप्त हो जाता है। आज का आम आदमी भयभीत है। व्यापारी, अध्यापक, इंजीनियर, डॉक्टर, मिनिस्टर अथवा अधिकारी, धनिक अथवा निर्धन, साक्षर अथवा निरक्षर सभी में भय व्याप्त है। इन सभी में प्रमाद है, विस्मृतियाँ

है, असत्य है। इन सबकी प्रज्ञा सोयी पड़ी है। हाँ, बुद्धि का अवश्य जागरण हुआ है। बुद्धि भय को नहीं मिटा सकती। बुद्धिमान भय को दूर से पकड़ लेता है।

बुद्धि जितनी प्रखर होती है, भय उतना ही अधिक बढ़ता है। प्रज्ञा से भय भागता है और अभय आता है। प्रज्ञा ज्ञान की उत्कृष्ट अवस्था है। इसके बलबूते पर करणीय और अकरणीय का बोध हो जाता है। शुभ और अशुभ का निर्णय प्रज्ञा द्वारा सहज में किया जाता है।

जीवन में सहिष्णुता के उदय होने से भय से पिंड छूट जाता है। इससे पर-पदार्थ के प्रति ममता और ममत्व की भावना प्रायः समाप्त हो जाती है। जीवन में तब समता और समत्व का सर्वोदय होता है। सत्त्व में जब समत्व का जागरण होता है, तब सम्यक्त्व का संचार होने लगता है। इसके लिए साधक को कायोत्सर्ग में निष्णात होना आवश्यक है। अभय के अभाव में कायोत्सर्ग का होना संभव नहीं। जब राग मिटता है तब अभय का सर्वोदय होता है। अभय से ही वीतरागता का आरंभ होता है।

अभय की भावना उद्दीप्त होने पर ही आत्मविश्वास की भूमिका बनती है। आत्मा स्वयं में पूर्ण है। इसमें अनन्त गुण विद्यमान हैं। आत्मविश्वास की दृढ़ता होने पर उससे पक्का विश्वास हो जाता है कि जो आत्म शक्तियाँ वीतराग परमात्मा में विद्यमान हैं वे सभी शक्तियाँ मेरी आत्मा में भी निहित हैं। उन्हें मात्र जाग्रत करने की आवश्यकता है।

आत्मविश्वास और अभय जागतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए अनिवार्य शक्तियाँ हैं। महात्मा गांधी का यह दृढ़ विश्वास था कि आत्मविश्वास ही हमारी जीवन नैया को तूफानी सागर में भी खेता और पार लगाता है।

किसी को विश्वास नहीं होता था कि जिस ब्रिटिश साम्राज्य में कभी सूर्यास्त नहीं होता, उससे सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह के बलबूते पर स्वराज प्राप्त किया जा सकता है। महात्मा गांधी के अटल आत्मविश्वास ने अहिंसक सत्याग्रह के प्रयोगों से देश के कोने-कोने में स्वतंत्रता संग्राम और राष्ट्रीय जागृति का वातावरण उत्पन्न कर दिया और अन्ततोगत्वा सन् 1947 ई. में ब्रिटिश शासन को विवश होकर भारत से अपनी प्रभुसत्ता समाप्त करनी पड़ी।

भय और आतंक मनुष्य के आत्मविश्वास के बाधक ही नहीं, उसके घातक भी प्रमाणित होते हैं। कहते हैं एक जापानी युवक ने अणुबम के विनाशकारी परिणामों से भयभीत होकर आत्महत्या कर ली थी। भय से भयभीत प्राणी सन्मार्ग से हटकर उन्मार्ग पर चलने के लिए विवश और बाध्य हो जाते हैं। आत्मविश्वास से वंचित आये दिन परीक्षाओं में असफलता प्राप्त करने पर अनेक परीक्षार्थी आत्महत्याएँ करने पर उतारू हो जाते हैं। भय वस्तुतः अनीतियों का जनक होता है।

महात्मा गांधी ने अपने जीवन में श्रम और सत्य के प्रति लगाव और आत्मविश्वास के प्रति दृढ़ता का पालन किया था। सर्वोदय और सत्याग्रह के प्रति वे आरंभ से ही सजग रहे। वे असंभव से असंभव कार्य को अपने आत्मविश्वास के सहारे प्रारंभ कर देते थे। अनेक कठिनाइयों का दृढ़ता के साथ सामना करके वे अन्ततः सफलता प्राप्त कर लेते थे। वे अनीति और अनृत के आगे कभी नहीं झुके।

एक बार की घटना है जब साधनविहीन महात्माजी ने अहमदाबाद में 'कोचरब' में आश्रम खोला। कहते हैं, उसी समय दूधाभाई नामक एक हरिजन परिवार वहाँ रहने के लिए आ गया। हरिजन के आने से गांधीजी को कोई आपत्ति नहीं थी, उनकी दृष्टि में मनुष्य मात्र सब एक हैं, परन्तु जो भाई आश्रम को आर्थिक सहयोग जुटा रहे थे। वे हरिजन के आगमन से असंतुष्ट थे। गांधीजी के समतावादी दृष्टिकोण के आगे वे मौन रहे, पर उन्होंने आश्रम को आर्थिक सहयोग देना बंद कर दिया। गांधीजी इससे विचलित नहीं हुए और उन्होंने मानव-समता के सिद्धांत और संस्कृति को नहीं छोड़ा। उनके आत्मविश्वास का परिणाम यह हुआ कि दूसरे रोज प्रातःकाल ही कोई अजनबी अपना परिचय न देकर गांधीजी के चरणों में दसियों हजार रुपये भेंट कर गया।

अभय और आत्मविश्वास को चिरंजीवी बनाए रखने के लिए हमें स्वार्थ प्रलोभन, असत्य और मिथ्यात्व के प्रति लगाव से सर्वथा दूर रहना चाहिए। प्रलोभन के प्रवाह में बहे कि भय और आशंका का अनाहूत आगमन आरंभ हो जाता है। इस संबंध में मुझे एक कथावृत्त का स्मरण हो आया है।

कहते हैं कि संत कन्फ्यूशियस एक बार सम्राट के अतिथि बने। वहाँ तीन पिंजरे रखे हुए थे। एक पिंजरे में एक चूहा था, उसके सामने मेवा पड़ा था। दूसरे पिंजरे में एक बिल्ली थी, उसके सामने मलाई से भरा कटोरा था। तीसरे पिंजरे में एक बाज पक्षी था, उसके सामने ताजा मांस था। चूहा, बिल्ली और बाज तीनों भूखे थे, फिर भी चूहा मेवा नहीं खा रहा था, बिल्ली मलाई नहीं खा रही थी और बाज मांस नहीं खा रहा था। सम्राट ने संत से पूछा—ये तीनों भूखे हैं। अपना-अपना भक्ष्य खाना चाहते हैं, फिर भी क्यों नहीं खा रहे हैं? संत कन्फ्यूशियस ने सारी स्थिति का आकलन कर कहा—राजन्, चूहा अपने सामने बिल्ली को देखकर भयभीत है, इसलिए उसे मेवा खाना याद नहीं आ रहा। बिल्ली अपने सामने बाज को देखकर घबरा रही है। चूहा और मलाई दोनों उसके प्रिय खाद्य हैं, पर बाज को देखकर वह भयभीत है। वह भयाक्रांत अपने बचाव की सोच में लीन है। बाज के पास किसी प्रकार का भय नहीं है पर वह तो अपने प्रिय पदार्थों के प्रलोभन में फँसा हुआ है। पहले बिल्ली को खाऊँ

या चूहे को? इस दुविधा में उसे अपने पिंजरे में रखा हुआ मांस दिखाई नहीं देता। यदि लम्बे समय तक इन तीनों की यही स्थिति रही तो ये तीनों प्राणी अन्ततः भूखे तड़प-तड़प कर मर जायेंगे।

अभय और आत्मविश्वास सुखी और समृद्ध जीवन के अमोघ साधन हैं। सत्य और श्रम से हमें इन तत्त्वों को जगाना आवश्यक है।

□□

परिग्रह विष-वृत्ति

जगत में अनन्त पदार्थ हैं। उन्हें पाने की अनन्त इच्छायें हैं। अनन्त इच्छाओं से अनुप्राणित प्राणी का ढेर लगाने और पदार्थों के अंबार लगाने में आज का आदमी नित्य और निरंतर सक्रिय है। संगृहीत पदार्थों का एक साथ जब भोग और परिभोग नहीं किया जा सकता, फिर भला उसके उपयोग करने का प्रश्न ही कहाँ उठता है?

पदार्थ जब किसी एक घेरे में घिर जाते हैं, तब वस्तुतः घर का जन्म होता है। घर में बाहर से भीतर की ओर खिंचाव रहता है। घरेलू खिंचाव के प्रति ग़ज़ब की आसक्ति रहती है, इसलिए घर परिग्रह है, जबकि अपरिग्रह सर्वथा बेघर है। परिग्रह से अपरिग्रह तक पहुँचने के लिए अन्तर में अनासक्ति का जगना आवश्यक है।

मनुष्य का मन गहरी झील के अगाध जल की तरह सदा शांत रहता है, पर बाहरी पदार्थों की झलक और ललक, उसकी शांति को प्रायः भंग कर देती है। अशांत अंतर/मन को परिग्रह से कभी शांत नहीं किया जा सकता। उसकी शांति का अमोघ उपाय है अंतरंग में अनासक्ति और अपरिग्रह की भावना को जाग्रत करना।

भव-सागर में मानवीय जीवन एक नौका की भाँति तिर रहा है। कितना ही गहरा जल हो, नौका और नाविक को कोई डर नहीं। भय तो तभी जन्म लेता है जब पानी नौका में भरने लगे। नौका में जमा पानी उसे अन्ततः डुबो ही देता है। इसी प्रकार भव-सागर से पार उतरने के लिए मानवीय जीवन में सांसारिक पदार्थों की आवश्यकता प्रायः असंदिग्ध है। पदार्थों के प्रति उत्पन्न आसक्ति, तज्जन्य परिग्रही मनोवृत्ति, उसे निरर्थक बोझिल बना देती है। बोझिल जीवन विनाश के द्वार पर स्वयमेव दस्तक देता है। परिग्रह एक विष-वृत्ति है। यह प्राण को निष्प्राण बना देती है। समुदाय और समाज के लिए अत्यंत घातक है। महाराष्ट्र के विख्यात

संत और साधक तुकाराम ने परिग्रह का मूल्यांकन करते हुए कहा था, "आवश्यकता से अधिक संग्रह करना गोमांस के समान त्याज्य होना चाहिए।" परिग्रह सचमुच सभी पापों की जननी है। अन्तरंग के पापों का प्रक्षाल करने के लिए महात्मा गांधी अनासक्ति व्रत को रामबाण स्वीकार करते हैं।

परिग्रह को धर्मशास्त्र दो भागों में विभक्त करते हैं :

1. अंतरंग परिग्रह
2. बाह्य परिग्रह

मिथ्यात्व, मूर्च्छा और कषाय-क्रोध, मान, माया और लोभ के योग-प्रयोग से अंतरंग परिग्रह का प्रारंभ और पोषण होता है। इससे आत्मा की निर्मलता प्रभावित होती है फलस्वरूप आत्मा प्रायः कर्म-बंधन में आबद्ध होने लगता है। क्रोध के उदय से सम्पूर्ण शांति, मान के उदय से प्रेम, माया के उदय से सरल स्वभाव और लोभ के उदय से शुचिता के संस्कार भौंथरे होकर अंततः मिट ही जाते हैं। मन की अशांति में उद्विग्नता के अतिरिक्त भला और क्या पाया जा सकता है? मान और अभिमान के जाग्रत हो जाने पर अंतरंग समत्व और सम्यक्त्व से सर्वथा शून्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में जीवन और जगत में विषमता और विग्रहप्रियता प्रायः प्रोन्नत हुआ करती है।

मनुष्य जन्म से प्रायः आर्जवधर्मी होता है। उसका अंतरंग आस्था के आलोक से सदा आलोकित रहता है। माया और मायाचारी प्रवृत्तियाँ उसे निस्तेज और निरस्त कर पूर्णतः अनार्जवी बना देती हैं। ऐसी परिस्थिति में जीवन आडम्बर और प्रदर्शन-मुखी हो जाता है। जीवनचर्या से सहजता और स्वाभाविकता सदा-सदा के लिए प्रायः समाप्त हो जाती है।

लोभ विनाश का मूलाधार है। लोभी मनोवृत्ति मन को पूर्णतः मैला बना देती है। ऐसी दशा में परिग्रह-वैविध्य के लिए सभी द्वार प्रायः खुल जाते हैं। परिग्रही सदा आकुल और व्याकुल जीवन जीता है। अंतरंग में अपरिग्रह के उदय होने से मन की निर्मलता आरंभ होने लगती है। निर्मल मन ही धर्म है। जब अंतरंग परिग्रही हो जाता है तब बाह्य परिग्रह स्वयमेव परिपुष्ट होने लगता है। मन मूर्च्छित हो तो बाह्य परिग्रह निर्बाध रूप से मुखर हो उठता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य का जीवन-रथ विनाश के गर्त में अन्ततः गिर ही जाता है।

यहाँ परिग्रही मनोवृत्ति से पीड़ित एक प्राणी की जीवन-घटना का स्मरण हो आता है। एक मठ-मंदिर के महंत महेन्द्र गिरि थे। वे अपने भक्तों की मनौतियाँ और मुरादें पूरने के लिए काफी प्रसिद्ध थे। मंगल और शनिवार को वहाँ असंख्य नर-नारी एकत्र होते थे। श्रद्धा और सामर्थ्य के अनुसार वे चढ़ावा चढ़ाते और अपने-अपने मनोरथ पूर्ण हेतु प्रसाद प्राप्त कर घर लौट आते। कहते हैं, वहाँ पहुँचकर

लोग प्रायः निहाल हो जाते।

गत अनेक दशाब्दियों से उनकी जीवन चर्या निर्बाध गति से चल रही थी। एक दिन महंतजी के उर में शूलोदय हुआ। उन्होंने अनेक विधि धार्मिक उपचार किये, पर सब व्यर्थ। अर्द्ध-रात्रि में व्यथित महंत से उनके अन्तेवासी ने अनुरोध किया, "गुरुवर, आज्ञा करें तो दस पैसे की एनासिन खरीद लाऊँ। कहते हैं उससे सभी दर्द शांत हो जाते हैं।"

अपने लोभी स्वभाव से लाचार महंत ने इनकार कर दिया और वे रात भर चीखते-चिल्लाते रहे। कहते हैं, प्रत्यूष काल में उनकी आँख लग गई। नित्य की नाईं भक्तगण आने लगे। महंत बाबा की अस्वस्थता से अवगत होते गये। देखते-देखते वहाँ अच्छा जन-कुल एकत्र हो गया। भक्तों ने चिकित्सक और औषधि के अनेक प्रस्ताव रखे। भास्कर भगवान की किरणें जब मंदिर-प्रांगण में पूर्णतः पसर गई थीं, तब अन्तेवासी ने बाहर आकर भक्तों की भीड़ में उजागर किया कि महन्त बाबा हम सबको सदा-सदा के लिए छोड़ गए हैं। तुरन्त क्रिया-कर्म किया गया। मंदिर व्यवस्थापकों के सामने अंतेवासियों ने स्पष्ट किया, महंत बाबा अपने पीछे नब्बे हजार की नकदी छोड़ गए पर वे अपने इलाज में दस पैसे भी खर्च नहीं कर पाये।

□□

अस्तेय की महिमा

स्तेय और अस्तेय आचार-संहिता की शब्दावली है। स्तेय शब्द का अर्थ है चोरी, और चोरी करना तथा अस्तेय शब्द का अभिप्राय है चोरी न करना। मानवीय विकास और उल्लास में स्तेय को पूर्णतः वर्जित किया गया है। आत्म-तोष और आत्म अभ्युदय में अस्तेय की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

स्तेय वस्तुतः एक व्यसन है। उसका मूल और मौलिक हेतु है—परद्रव्य के प्रति उत्पन्न आसक्ति। जिस वस्तु पर अपना कोई स्वामित्व न हो और उसे पाने के लिए उत्कट लालसा उत्पन्न होना वस्तुतः 'अदत्तादान' के अंतर्गत समझना चाहिए। अदत्तादान का अपरनाम है चोरी।

स्तेय व्यसन व्यक्ति को सामाजिक अपराधी बनाता है। इससे पारस्परिक व्यवहार में छल-कपट, प्रपंच और प्रवंचना जैसी मलिन और मैली मनोवृत्तियों का तेजी से संचार होने लगता है, फलस्वरूप जीवन और जगत में अविश्वास और असंतोष का जन्म होता है। यही कारण है कि संसार की जितनी धार्मिक मान्यताएँ हैं, उन सभी में स्तेय अर्थात् चोरी को अधम कृत्य माना गया है।

यजुर्वेद में चोरी का स्पष्ट निषेध किया गया है। महात्मा ईसा 'बाइबिल' में उद्घोष करते हैं, "तुम्हें चोरी नहीं करनी चाहिए।"

भगवान महावीर से महात्मा गांधी तक सभी ने बिना दी हुई किसी की वस्तु को ग्रहण करना चोरी माना है। महात्मा गांधी का कहना था कि आवश्यकता से अधिक संग्रह करना चोरी है। वे भूख से अधिक खाने तक को चोरी मानते थे। उनका मानना था कि हमें अपना पेट भरना चाहिए, पेटी नहीं।

धर्मशास्त्रों में चोरी वैविध्य की विशद चर्चा हुई है। उन्हें हम छह भागों में विभक्त कर सकते हैं। यथा—

1. छन्न चोरी, 2. नजर चोरी, 3. ठगी चोरी, 4. उद्घाटक चोरी, 5. बलात् चोरी, 6. घातक चोरी।

छन्न चोरी से तात्पर्य है किसी की वस्तु, फिर चाहे वह हमारे घर में ही रक्खी हो, उसे मालिक की अनुमति के बिना गुप्त रूप से उठकर अपने अधिकार में कर लेना और प्रयोग में से ले लेना। वस्तु के स्वामी और संरक्षक की आँख बचाकर उसे ग्रहण करना और उसका उपयोग करना नजर चोरी कहलाता है। ठगी से तात्पर्य है मालिक के सामने ही वस्तु को धोखा देकर ग्रहण करना। अच्छी वस्तु बताकर निम्न कोटि की वस्तु देना, वस्तु में मिलावट करना, नाप-तौल में गड़बड़ करना, वस्तु का जितना मूल्य है, उसे अधिक मूल्य प्राप्त करना आदि सभी बातें ठगी-वृत्ति में आती हैं।

किसी व्यक्ति की गांठ को खोलकर, जेब कतरकर, सेंध लगाकर, ताला तोड़कर जो चोरी की जाती है, उसे उद्घाटक चोरी कहते हैं। डकैती, जबदरस्ती छीनझपट कर, मार-पीटकर लूटना तथा अधिक कर के रूप में ग्रहण करना अथवा उत्कोच के रूप में लेना आदि व्यवहार बलात् के अंदर आते हैं। चोरी के साथ चोर द्वारा स्वामी को मार डालना वस्तुतः घातक चोरी कहलाता है।

इस प्रकार की चोरियों के अतिरिक्त कतिपय चोरियाँ अप्रत्याशित रूप से की जाती हैं। इस दृष्टि से नाम की चोरी उल्लेखनीय है। किसी अन्य व्यक्ति द्वारा कोई मूल्यवान कार्य सम्पन्न हुआ हो और उसे अपना कहना, वस्तुतः नाम चोरी है। विचार और रचना को अपना बनाकर प्रकाशित करना नाम चोरी के अन्तर्गत आता है। आज इस प्रकार की चोरियाँ थोक में की जा रही हैं।

धन-सम्पत्ति, बुद्धि-कौशल, शक्ति और सामर्थ्य को छिपाकर उसका सम्यक् उपयोग न करना भी एक प्रकार की चोरी है। तस्करी-व्यापार करना भी चोरी का एक प्रकार है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में विविध पदों तथा विधि रूपों में समादर पाकर तद्नुसार अपने दायित्व का निर्वाह न करना भी वस्तुतः चोरी है।

जीवन जीना एक कला है। इस कला में जो प्राणी प्रामाणिकता-पूर्वक नीति और नैतिक मूल्यों का पालन करते हैं, वे सचमुच स्तेय-दोष से सर्वथा मुक्त हैं। प्रामाणिक जीवन-चर्या जीना आज अत्यन्त दुर्लभ है। अप्रामाणिक जीवनचर्या प्रायः अतृप्त और असंतुष्ट रहती है। महात्मा गांधी कहा करते थे कि हमें बुराई से घृणा करनी चाहिए, बुरे आदमी से नहीं। दूसरे के दिल को दुखाना हिंसा है और हिंसा घृणा का घर होता है। वे व्यक्ति को बुराई से मुक्त रखने के पक्ष में रहते थे। इससे मन निर्मल होता है। निर्मल मन सदा संतुष्ट रहता है।

चोरी ऐसी बुरी वृत्ति है, जो जीवन में एक बार जग जाये तो मौरूसी किरायेदार की तरह मकान को खाली करने का नाम नहीं लेती। व्यसनी स्वयं सदा अशांत और असंतुष्ट रहता है तथा दूसरों को भी तद्नुसार पीड़ा-प्रिय वातावरण जुटाता

है। संस्कारी जीवनचर्या सदा अस्तेयधर्मा होती है।

जब जीवन में 'संग्रह वृत्ति' जन्म धारण करती है तब चोरी जैसी घिनौनी वृत्तियाँ स्वयमेव प्रोन्नत होने लगती हैं। उपनिषद् में राजा अश्वपति का एक प्रसंग आया है। उनका कहना है कि मेरे राज्य में न कोई चोर है और न कोई डकैत या लुटेरा। न कोई कृपण है, न कोई मद्यप। इस प्रकार का राज्य पृथ्वी पर स्वर्ग जैसा रहा होगा।

सम्राट चन्द्रगुप्त के शासनकाल में यूनानी राजदूत मैगास्थनीज़ भारत पधारे थे। उन्होंने यात्रा-वृत्तांत में उल्लेख किया है कि पाटलीपुत्र में ताले नहीं लगाये जाते थे। वहाँ मार्ग में पड़ी हुई मूल्यवान वस्तु को भी कोई नहीं उठाता था। 'पर-द्रव्येषु लोष्ठवत्' मानने वाले भारत में आज लोष्ठ-ढेलों की भी चोरी होने लगी है। यह पतन की पराकाष्ठा नहीं है तो और क्या है?

'गीतांजलि' के अमर प्रणेता कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी चीन और जापान यात्रा के वृत्तान्त में उल्लेख किया है कि इनके वहाँ पहुँचने पर लोगों ने पूछा था कि आप उस देश से पधारे हैं, जहाँ पर तथागत बुद्ध जैसे महापुरुष ने जन्म लिया है। वहाँ कोई चोरी नहीं करता, वहाँ लूटपाट और डकैती नहीं पड़ती। यह सुनकर उन्होंने साश्रुमुद्रा में स्वीकारा था कि आपका यह कथन पूर्णतः सत्य है—एक दिन भारतवर्ष ऐसा ही था, पर आज भारत वैसा नहीं रहा है।

जब जीवन से श्रम और सदाचार के संस्कार लुप्त हो जाते हैं तब आवश्यक वस्तुओं के लिए भी दूसरे का मुख ताकना होता है। ऐसी स्थिति में अपहरण करने की वृत्ति जन्म लेती है। वह दूसरों की वस्तु हड़पने की होड़ में उत्सुक रहता है। इस प्रकार स्तेय-मुखी वृत्ति विकार से उबरने के लिए हमें व्रत-विधान में दीक्षित होने के लिए गंभीरतापूर्वक विचार करना होगा।

अस्तेय एक व्रत है। यह जीवन में दिव्य जीवन जीने के लिए उत्प्रेरित करता है। स्वयं की आवश्यकताओं को न्याय-नीति पूर्वक पवित्र पुरुषार्थ से प्राप्त करने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार जीवन आत्मतोष और आत्म अभ्युदय से एक बार पुनः सम्पृक्त हो सकता है। ऐसा होने पर ही महात्मा गांधी का स्वप्न साकार हो सकता है।

□□

अस्वाद और रस-लालसा

पर्यायधारियों में मनुष्य की उत्कृष्टता असंदिग्ध है। मनुष्य की वृत्तियाँ संतुलित हों, उद्वेग-रहित हों, तभी उसके संकल्प, विचार और व्यवहार सत्त्व और समत्व के परिपोषक होते हैं। मनुष्य-जीवन की पवित्रता उसे एक अपूर्व सुख और शान्ति की अनुभूति कराती है। जीवन की पवित्रता उसे एक अपूर्व सुख और शान्ति की अनुभूति कराती है। जीवन की पवित्रता का मार्ग है—विकार और विकल्प राहित्य होना।

विकार चाहे मन के हों, चाहे तन के हों, उससे जीवन में दूषण अर्थात् मलीनता और अपवित्रता का संचार होता है। मन की निर्मलता से बड़ा अन्य कोई धर्म नहीं है। निर्मल मन को सर्वोत्तम तीर्थ कहा गया है।

चाहे भगवान महावीर हों, तथागत बुद्ध हों, महर्षि मनु हों, गौतम हों, चाहे ईसा हों अथवा हों हज़रत मुहम्मद, चाहे कन्फ्यूशियस हों अथवा हों टालस्टाय, चाहे महात्मा गांधी हों अथवा संत विनोबा हों, जीवन की पवित्रता और संपन्नता के लिए संयम साधना और विकार वर्जना को सभी ने समान रूप से महत्त्व दिया है।

"संयमः खलु जीवनं" अर्थात् संयम ही जीवन है। संयम का अर्थ है—इंद्रिय (संयम) निग्रह। निग्रह अर्थात् निरोध अथवा अवरोध। ऐन्द्रिक व्यवहारों और व्यापारों पर नियंत्रण रखने से इन्द्रिय संयम सधा करता है। सधे चरण जीवन में सदाचरण का प्रवर्तन करते हैं। मनुष्य-जीवन की सार्थकता उसके सदाचरण पर निर्भर करती है।

संयम को धर्म-शास्त्रों में दो वर्गों में विभक्त किया गया है :

(1) प्राण-संयम

(2) इन्द्रिय-संयम

षट्काय और कषायजन्य घात और प्रतिघात-परक भावों के त्याग को प्राण-संयम कहते हैं। किसी भी जीवधारी के मन, वचन और कर्म से कष्ट न पहुँचाने वाले भावों का सर्वथा त्याग संयम के अन्तर्गत आता है, जबकि पंचेन्द्रियों और मन के विषय-व्यापारों के त्याग को कहते हैं इन्द्रिय-संयम। अस्वाद और

रस-लोलुपता का सीधा सम्बंध इन्द्रिय संयम से है। रसना के व्यवहार और व्यापार में अस्वाद और रस-लोलुप मनोवृत्ति का पोषण होता है। यहाँ इसी विषय पर संक्षेप में चर्चा करेंगे।

महात्मा गांधी ने मनुष्य के पूर्ण विकास के लिए जिन एकादश व्रतों का जिक्र किया है, उनमें अस्वाद और रस-लोलुप अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। संयम-साधना में प्रवृत्त होने से मनुष्य का मन निर्मल हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसे ऐन्द्रिक विषय-भोग में कोई रुचि शेष नहीं रहती। वह अस्वाद भोजन करने लगता है। स्वाद की लालसा भोगी प्राणियों की अभिरुचि के अनुकूल हुआ करती है। उनका मन प्रायः रस-लोलुप होता है। ऐसी दशा में प्राणी प्रायः परावलम्बी और पराधीन जीवन बिताया करते हैं।

तिर्यंच गति के प्राणी अपनी एक-एक इन्द्रिय-रस-लोलुपता के कारण जीवन-लीला को समाप्त कर लेते हैं। अगाध जल में संचार करने वाली मछली जाल में लगे हुए लोहे के काँटे (बंशी) पर संलग्न मांस या आटे की गोली को खाने के लिए ज्यों ही झपटती है, वह मच्छीमार के चंगुल में फँस जाती है। गंध में आसक्त मधुकर मदोन्मत्त हाथी के कपोल प्रदेश पर बैठता है, किन्तु उसके कान की फटकार से शीघ्र ही मरण-शरण हो जाता है। दीप-शिखा का लोलुप शलभ अपनी जिन्दगी की आहुति दे देता है। हथिनी के स्पर्श सुख में आसक्त हाथी शीघ्र ही गड्ढे में गिरकर बंधन को प्राप्त हो जाता है। चक्षु-श्रवा (सर्प) वीणा के मधुर स्वर-नाद पर अपने जीवन की दुर्दशा करा लेता है। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों में से जब एक-एक इन्द्रिय का विषय-लोलुप मृत्यु का कारण होता है तब भला एक साथ पाँचों इन्द्रिय का विषय-लोलुप सर्वनाश का कारण क्यों नहीं होगा?

जिस मनुष्य का सारा जीवन इन्द्रियों का गुलाम हो रहा है, उसे अपने इन्द्रिय-सुख और इन्द्रिय ज्ञान का उपार्जन करने का ध्यान ही नहीं है। विचार कीजिये, इन्द्रियाँ हमारे ज्ञान और आनंद में सहायक होती हैं। वे पदार्थ के बोध कराने में हमारी अमोघ सहायता करती हैं। पर मनुष्य को अपनी इन्द्रियों की शक्ति का उपयोग करने का ध्यान ही नहीं रहता। गांधी जी स्वाद-भट्ट और रस-लोलुप असंयमी मनुष्यों की जीवनचर्या के द्वार पर दस्तक देकर उन्हें जगाना आवश्यक समझते थे। उनकी मान्यता थी कि यदि हम स्वाद पर नियंत्रण कर लें तो रस-लोलुपता से हमारा पिण्ड छूट सकता है।

हमारे जीवन में अस्वाद की प्रवृत्ति जगे, इसके लिए रस-लोलुपता पर हमें अपनी भोजन-प्रक्रिया पर ध्यान देना होगा। चार प्रकार की शुद्धियों से अनुप्राणित भोजन करने का शुभ संकल्प लेना चाहिए। सात्त्विक भोजन हमारे मन-मानस में उदात्त भव्य भावनाओं का संचार करता है। जीवन में सुख और शान्ति प्राप्त्यर्थ

शरीर-शुद्धि और चित्त-शुद्धि की आवश्यकता असंदिग्ध है। कषायिक कौतुक, क्रोध, मान, माया और लोभ हमारे मानसिक भावों को मैला और मलिन बनाती हैं। भाव की भ्रष्टता हमारी जीवन-चर्या में लोभ और लोलुप मनोवृत्तियों को जाग्रत करती है और इस प्रकार हमारा जीवन ऊर्ध्वगति की अपेक्षा अधोगति की ओर उन्मुख हो जाता है। इसीलिए संयमी जीवन-चर्या के लिए रस और भोजन दोनों पर संयम रखना अत्यावश्यक है।

स्वाद-लिप्सा और रस लोलुपता को नियंत्रित करने के लिए अनेक व्रतों के पालन करने का निर्देश धर्म-शास्त्रों में किया गया है। अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान और रस-परित्याग का अभ्यास-सातत्य अत्यन्त उपयोगी है। गांधी जी ने स्वाद लिप्सा और रस-लोलुपता पर अंकुश रखने की बात कही है। इन दोनों में ही अन्य सभी बातें स्वयमेव मुखर हो उठती हैं।

अनशन अथवा एकासन को उपवास भी कहते हैं। यद्यपि इसमें एक बार भोजन किया जाता है तथापि भरपेट नहीं। इसी को 'ऊनोदर' भी कहते हैं। लोग उपवास के सही स्वरूप को नहीं समझते हैं। मात्र भोजन-त्याग ही उपवास नहीं है। उपवास तो आत्मस्वरूप के समीप ठहरने का नाम है। अभिग्रह अथवा अटपटी लेना, उनकी पूर्ति होने पर ही भोजन लेना अथवा निर्जल उपवास करना 'वृत्ति परिसंख्यान' कहलाता है। षटरसों में कोई एक दो अथवा छहों ही रसों का त्याग करना, नीरस भोजन लेना, 'रस-परित्याग' कहलाता है। यहाँ आकर गांधीजी का अस्वाद संकल्प चिरंजीवी होता है।

इच्छाओं को निरोधने के लिए और शरीर पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े, अतः सभी रसों का सदा के लिए त्याग करने की अपेक्षा विभिन्न रसों का विभिन्न समयों पर त्याग करने का अभ्यास किया जाता है। इसे 'दिन रसी' भी कहते हैं। यहाँ 'रस-लोलुप' होने से छुटकारा मिल जाता है। महात्मा गांधी ने इस सम्बन्ध में आश्रम और कारागार में अनेक प्रयोग किये थे। इन प्रयोगों से अस्वाद भोजन करने की प्रवृत्ति को पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है तथा आम आदमी की रस-लोलुपता पर नियंत्रण हो जाता है।

गांधीजी से प्रभावित होकर मैंने अपनी शास्त्र-सभा में एक प्रयोग किया। सभी भाइयों से निवेदन किया कि कल प्रातः उठते ही हमें पूरे दिन में तीन सब्जियों के सेवन करने का संकल्प लेना चाहिए। दूसरे रोज संकल्प पालने की जब मैंने परीक्षा ली तो साधारणतः अनेक स्वाध्यायी व्रत पालने में सफल हो गये। दो-एक भाइयों ने विस्मरण में मर्यादा भंग कर दी। संकल्प से अधिक सब्जियों का प्रमाद अथवा भूल में सेवन किया गया। छोटे-छोटे संकल्प हमारी चर्या को संयमी बनाने में मदद करते हैं। ❑❑

ब्रह्मचर्य : क्या और कैसे

जीवन और जगत के संचालन में विधि और व्यवस्था की आवश्यकता असंदिग्ध है। व्यवस्था जब आस्था-मुखी होकर जीवन में सक्रिय होती है तब उसका सम्यक् विकास होना वस्तुतः सुनिश्चित हो जाता है। व्रत और विधि-विधान जीवन में ऐसे ही संस्कारों को जन्म देते हैं, उनका पोषण करते हैं।

वैदिक, बौद्ध, जैन, इस्लाम, ईसाई आदि संसार की तमाम धार्मिक मान्यताएँ व्रत और उनके विधान को मान्यता प्रदान करती हैं। ब्रह्मचर्य एक व्रत है। पाइथोगोरस की मान्यता रही है—"जो व्यक्ति अपने आप पर नियंत्रण नहीं कर सकता, वह स्वतंत्र नहीं हो सकता। अपने आप पर शासन और अनुशासन की शक्ति और सामर्थ्य, ब्रह्मचर्य के बिना संभव नहीं है।"

'ब्रह्मचर्य' शब्द में विराट अर्थात्मा अन्तर्भुक्त है। वह मात्र स्त्री-पुरुष के संजोग और संस्पर्श से बचने तक सीमित नहीं है, अपितु ब्रह्मचर्य आत्मा को शुद्ध करने वाली समस्त विषय-विकारों और वासनात्मक व्यापारों से मुक्त कराने वाली प्रक्रिया है। ब्रह्मचर्य एक यौगिक शब्द है। ब्रह्म और चर्या शब्दों के सहयोग से उसका गठन हुआ है। 'ब्रह्म का अर्थ है आत्मा का शुद्ध स्वभाव, और 'चर्या' से तात्पर्य है चलना, गति करना और आचरण करना। शुद्ध आत्म-स्वभाव में अपने आपको केन्द्रित करना वस्तुतः है ब्रह्मचर्य। महात्मा गांधी ने अपनी भाषा और मुहावरे में ब्रह्मचर्य को इस प्रकार परिभाषित किया है—"ब्रह्मचर्य का अर्थ है, ब्रह्म की सत्य की खोज में चर्या, अर्थात् इससे संबंध रखने वाला आचार। इस मूल अर्थ में से सर्वेन्द्रिय-संयम का विशेष अर्थ निकलता है। केवल जननेन्द्रिय संयम के अधूरे अर्थ को तो हमें भूल जाना चाहिए। गांधीजी के अनुसार ब्रह्मचर्य मात्र इन्द्रियों के बाह्य व्यापारों से ही संबंध नहीं रखता, अपितु वह आत्म स्वभाव को भी प्रभावित करता है।

जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामक षट् द्रव्यों का समीकरण

संसार के रूप को स्वरूप प्रदान करता है। सांसारिक जीवन की उत्कृष्ट परिणति उसकी पवित्रता है। मनुष्य की वृत्तियाँ जब संतुलित होती हैं तब उसके विचार और व्यवहार भी शांत और पवित्र हो जाते हैं। इस सबके लिए ब्रह्मचर्य का अभ्यास सातत्य आवश्यक है। संयमन करने को संयम कहा जाता है। आत्म-संयम से तात्पर्य है अपने उपयोग को पर-पदार्थ से समेट कर आत्म सम्मुख करना, अपने में सीमित करना तथा अपने में लगाना। प्राणि और इन्द्रिय संयम-साधना से ही आत्म-संयम को स्थिर किया जा सकता है।

षट्काय जीवों के घात और प्रतिघात-परक भावों का परित्याग वस्तुतः प्राणि-संयम कहलाता है, जबकि पंचेन्द्रियों और मन के विषयों को छोड़ना अथवा छूटना कहलाता है, इंद्रिय संयम। आज सारा जगत इन्द्रियों का गुलाम हो रहा है। उसके सोच और समझ में भोग-भावों की प्रधानता है। वह अपने सारे पुरुषार्थ की सार्थकता ऐन्द्रिक भोगों में जानता और मानता है। यही कारण है कि आज उसका शील-स्वभाव नष्ट होकर चूर-चूर हो रहा है। शील के बिनस जाने पर जीवन नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार घड़े को चाहे जितनी बार जल से भरा जाये यदि उसके तल में कोई छेद है तो उसका अन्ततः खाली हो जाना निश्चित है। खाली घड़ा प्यासे की प्यास बुझाने में सर्वथा असमर्थ रहता है। उसी प्रकार शील-स्खलन से मनुष्य का आत्मिक और आध्यात्मिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। तिर्यंच गति के प्राणि अपनी अज्ञानता के कारण एक-एक इन्द्रिय भोग में मग्न और निमग्न हो जाने से विनाश को प्राप्त होते हैं। शलभ दीपशिखा के रूपाकर्षण पर, मीन रसना की लोलुपता से, हाथी स्पर्शन सुख से, सर्प बीन की सुमधुर ध्वनि-श्रवण से तथा भ्रमर कमल गंध और मकरंद पर आसक्त होने से अपने-अपने जीवन से हाथ धो बैठते हैं, फिर मनुष्य तो पाँच-पाँच इन्द्रियों के विषय भोगों में एक साथ डूबकर अपने भव-भ्रमण को परिपुष्ट करता है। भव-भ्रमण और उससे मिलने वाले दारुण दुःख-संघातों से उबरने के लिए आत्म-संयम और ब्रह्मचर्य की साधना और आराधना परमावश्यक है।

आत्म-संयम और ब्रह्मचर्य की साधना हेतु हमें अपनी भोजन प्रक्रिया पर ध्यान देना आवश्यक है। शरीर-शुद्धि और चित्त शुद्धि का आहार-शुद्धि से घनिष्ठ संबंध है। लोक-मान्यता आज भी चिरंजीवी है—**'जैसा खाओगे अन्न, वैसा बनेगा मन।'** आहार-शुद्धि का मूल आधार है चौका की संस्कृति। 'चौका' मात्र निश्चित भू-भाग को चारों ओर से घेर लेने का नाम नहीं है। चार प्रकार की शुद्धियाँ—क्षेत्र शुद्धि, द्रव्य शुद्धि, काल शुद्धि और भाव शुद्धि—चौका के रूप को स्वरूप प्रदान करती हैं। जहाँ हमारा भोजन बनाया और कराया जाये, वह क्षेत्र शुद्ध होना वस्तुतः क्षेत्र-शुद्धि कहलाता है। प्रामाणिक और नैतिकता-पूर्वक अर्जित सात्विक शाकाहारी

पदार्थ द्रव्य शुद्धि के अंतर्गत आते हैं। सूर्य-काल में भोजन प्रक्रिया संपन्न होना वस्तुतः काल-शुद्धि कहलाती है। इन सब शुद्धियों से ऊपर है—भाव-शुद्धि। अन्नदा और भोजनकर्ता के मनोभाव शुभ और शुद्ध होना आवश्यक है। भोजन करने-कराने से पूर्व मंत्रोच्चार करने से भाव-शुद्धि की संभावना उत्पन्न होती है। इस प्रकार चौका की संस्कृति से अनुप्राणित भोजन करने से व्यक्ति के जीवन में सात्विक और शुभ भावों का संचार होता है। इससे शरीर और चित्त-शुद्धि का सुयोग पुष्ट होता है। आत्म और अध्यात्म चिन्तन के लिए शरीर शुद्धि और चित्त-शुद्धि की अनिवार्यता पहली शर्त है। ब्रह्मचर्य और आत्म-संयम मात्र संसार त्याग कर भागने का मार्ग नहीं है, वह संसार को ही स्वर्ग बनाने वाली तेजोमयी पवित्र साधना है। भोग-वासना जीवन का आनन्द नहीं है, अपितु वह जीवन को शक्तिहीन, निस्तेज और धीरे-धीरे दुःख और पीड़ामय बनाता है। ब्रह्मचर्य वस्तुतः शक्तिशाली, बलशाली और सुखी जीवन का मूल मंत्र है और है सत्व, ओज, तेजस्वी, आत्मबल तथा मानसिक आनन्द का अक्षय स्रोत। लोकमान्य तिलक के जीवन संस्मरण में लिखा है कि एक बार एक रूपवती युवती को किसी विषय पर विचार-विमर्श कर अभिभूत करने के लिए तिलक के पास भेजा गया। आगत युवती को देखकर उन्होंने तुरंत अपनी दृष्टि वहाँ से हटाकर गीता पर टिका दी। वह युवती तीन घण्टे तक उनके सामने बैठी रही। उसकी आकर्षक भाव-भंगिमा और चेष्टाओं की प्रदर्शन-पटुता निरर्थक चली गयी। युवती पराजित हो गयी और उनके चरणों पर गिरकर क्षमा मांगने लगी। इस प्रकार सार और सारांश रूप में कहा जा सकता है कि आत्मसंयम और ब्रह्मचर्य के आगे सारे विकार और विकल्प विनाश को प्राप्त हो जाते हैं।

□□